दूरस्थ एवं ऑनलाइन शिक्षा केन्द्र
जम्मू विश्वविद्यालय
जम्मू

स्व–शिक्षण सामग्री
एम. ए. हिन्दी

2025

सत्रक – प्रथम	भारतीय काव्यशास्त्र	कोर्स कोड–HIN-101
इकाई–एक से चार तक	कोर्स क्रेडिट–6	अध्याय संख्याः 1 से 20 तक

प्रो. अंजू शर्मा
समन्वयक, एम.ए. हिन्दी

डॉ. पूजा शर्मा
प्रभारी शिक्षक, एम. ए. हिन्दी

इस स्व–शिक्षण सामग्री का रचना स्वत्व/प्रकाशनाधिकार दूरस्थ एवं ऑनलाइन शिक्षा केन्द्र, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू–180006 के पास सुरक्षित है।

http:/www.distanceeducation.in

Printed and published on behalf of the Centre for Distance & Online Education, University of Jammu, Jammu by the Director, CDOE, University of Jammu, Jammu

अध्याय लेखक | **अध्याय संख्या**

1 **प्रो. रामपत यादव** — **1 to 4, 18**
सेवानिवृत्त प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरूक्षेत्र

2 **प्रो. रजनी बाला** — **5 to 10**
विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

3 **प्रो. कौशल नाथ उपाध्याय** — **11, 12, 15**
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
जय नारायण व्यास, विश्वविद्यालय
जोधपुर

4 **प्रो. वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी** — **13, 14, 16, 17**
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय

5 **डॉ. अशोक कुमार** — **19**
सेवानिवृत्त सह प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

6 **डॉ. पूजा शर्मा** — **20**
प्रभारी शिक्षक, दूरस्थ एवं ऑनलाइन
शिक्षा केन्द्र, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

कार्यक्रम समन्वयक
प्रो. अंजू शर्मा
दूरस्थ एवं ऑनलाइन शिक्षा केन्द्र
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

प्रभारी शिक्षक
डॉ. पूजा शर्मा
दूरस्थ एवं ऑनलाइन शिक्षा केन्द्र
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

सामग्री समीक्षा, सम्पादन एवं मुद्रित शोधन
डॉ. पूजा शर्मा
प्रभारी शिक्षक
दूरस्थ एवं ऑनलाइन शिक्षा केन्द्र
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

* All rights reserve. No Part of this work may be reproduced in any form, by mimeograph or any other means, without permission in writing from the CDOE, University of Jammu.
* The Script writer shall be responsible for the lesson / script submitted to the CDOE and any plagiarism shall be his/her entire responsbility.

संदेश

पहले सत्रक में आपका स्वागत है !

एम.ए हिंदी के पहले सत्रक में आपका स्वागत करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। एम.ए हिंदी कोर्स के लिए नामांकन करने के उपरांत आपकी यात्रा हमारे साथ प्रारंभ होती है। एम.ए हिंदी में अच्छे अंक लाने के लिए कड़ी मेहनत करें और आंतरिक मूल्यांकन अर्थात असाइनमेंट तैयार करने के लिए थोड़ा अतिरिक्त प्रयास करें। असाइनमेंट बनाते हुए यह ध्यान में रखे कि यह अंक आपके हाथ में हैं जितनी मेहनत बाहरी परीक्षा के लिए करनी है उतनी ही मेहनत आंतरिक मूल्यांकन अर्थात असाइनमेंट बनाने में करें।

आपको सलाह दी जाती है कि आप नियमित रूप से दूरस्थ एवं ऑनलाइन शिक्षा केंद्र की लाइब्रेरी जाएँ और नोट्स बनाने के लिए उपलब्ध पुस्तकों का अधिक से अधिक अध्ययन करें। आप अपनी NET/JRF/SET/SLET या हिंदी से संबधित किसी भी प्रतियोगी परीक्षा के लिए भी एक साथ तैयारी कर सकते हैं और कोर्स कोड HIN-101 की अध्ययन सामग्री आपके पाठ्यक्रम और NET/SET परीक्षा की तैयारी को ध्यान में रखते हुए तैयार की गई है। कड़ी मेहनत करें।

शुभकामना सहित

प्रोफेसर अंजू शर्मा

पाठयक्रम समन्वयक

Syllabus of Master Degree Programme in Hindi under Non CBCS

Semester- 1st

Course Code: HIN-101
Credits: 6
Duration of Examination: 3 Hrs-

Title: Bhartiya Kavya Shastra
Maximum Marks: 100
a) Internal = 30
b) External = 70

Syllabus for the Examination to be held in Dec. 2025, 2026 & 2027

भारतीय कव्यशास्त्र

इकाई – एक

काव्य की परिभाषा और स्वरूप, काव्य–हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य के रूप– दृश्य, श्रव्य और इनके भेद, शब्द–शक्ति और इसके भेद।

इकाई – दो

रस सम्प्रदायः प्रमुख आचार्य और उनकी स्थापनाएँ

अलंकार सम्प्रदायः प्रमुख आचार्य और उनकी स्थापनाएँ।

रीति सम्प्रदायः प्रमुख आचार्य और उनकी स्थापनाएँ।

इकाई – तीन

ध्वनि सम्प्रदायः प्रमुख आचार्य और उनकी स्थापनाएँ।

वक्रोक्ति सम्प्रदायः प्रमुख आचार्य और उनकी स्थापनाएँ।

औचित्य सम्प्रदायः प्रमुख आचार्य और उनकी स्थापनाएँ।

इकाई – चार

रस निष्पति और साधारणीकरण, भरतमुनि का रस सूत्र, रस निष्पति की प्रक्रिया, सहृदय की अवधारणा।

भट्टलोल्ट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त के रस निष्पति सम्बन्धित मत।

भट्टनायक और रामचन्द्र शुक्ल का साधारणीकरण सम्बन्धित मत।

प्रश्न पत्र का प्रारूप

कोर्स कोड HIN–101 के प्रश्नपत्र का प्रारूप इस प्रकार होगा

आंतरिक मूल्यांकन

(Internal Assessment Asignment) कुल अंक : **30**

(क) शत–प्रतिशत विकल्प के साथ एक दीर्घ उत्तरापेक्षी प्रश्न। **10 X 1 = 10**

(ख) शत–प्रतिशत विकल्प के साथ दो लघु उत्तरापेक्षी प्रश्न। **5 X 2 = 10**

(ग) विकल्प रहित चार अति लघु उत्तरापेक्षी प्रश्न। **2½ X 4 = 10**

Syllabus of Master Degree Programme in Hindi under Non CBCS

Semester& 1st

Course Code: HIN-101	**Title: Bhartiya Kavya Shastra**
Credits: 6	**Maximum Marks: 100**
Duration of Examination: 3 Hrs.	**a) Internal = 30**
	b) External = 70

Syllabus for the Examination to be held in Dec- 2025] 2026 & 2027

भारतीय कव्यशास्त्र

मुख्य परीक्षा (External Exam) — कुल अंक : 70, समय : तीन घण्टा

(क)	प्रत्येक इकाई में से शत–प्रतिशत विकल्प के साथ एक–एक दीर्घ उत्तरापेक्षी प्रश्न पूछा जाएगा।	12 X 4 = 48
(ख)	प्रत्येक इकाई में से शत–प्रतिशत विकल्प के साथ एक–एक लघु उत्तरापेक्षी प्रश्न पूछा जाएगा।	4 X 4 = 16
(ग)	सम्पूर्ण पाठ्यक्रम पर आधारित छः वस्तुनिष्ठ विकल्प रहित प्रश्न पूछे जायेंगे।	1 X 6 = 6

संस्तुत पुस्तकें

भारतीय काव्य शास्त्र – सत्यदेव चौधरी ।

काव्य के रूप– गुलाबराय।

सिद्धान्त और अध्ययन– गुलाबराय।

रस–सिद्धान्त की दार्शनिक व्याख्या– डॉ. तारकनाथ बाली।

भारतीय काव्य–शास्त्र की परम्परा– डॉ. नगेन्द्र ।

भारतीय काव्य–शास्त्र– रामानंद शर्मा।

साहित्य–शास्त्र– रामशरण दास गुप्त, राजकुमार।

भारतीय काव्य–शास्त्र के सिद्धान्त– कृष्णदेव शर्मा।

काव्य–शास्त्र– भगीरथ मिश्र।

विषय–सूची

संख्या	अध्याय शीर्षक	पृष्ठ संख्या
1.	भारतीय आचार्यों के अनुसार काव्य की परिभाषा और स्वरूप	1–12
2.	काव्य हेतु एवं काव्य प्रयोजन	13–24
3.	काव्य के रूप दृश्य–श्रव्य तथा इनके भेद	25–38
4.	शब्द शक्ति और उसके भेद, सहृदय की अवधारणा	39–56
5.	रस सम्प्रदाय – विभिन्न आचार्य एवं उनकी स्थापनाए	57–68
6.	अलंकार सम्प्रदाय – आचार्य एवं उनके सिद्धांत	69–75
7.	रीति सम्प्रदाय – प्रमुख आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ	76–82
8.	ध्वनि सम्प्रदाय – प्रमुख आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ	83–91
9.	वक्रोक्ति सम्प्रदाय – प्रमुख आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ	92–98
10.	औचित्य सम्प्रदाय – प्रमुख आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ	99–106
11.	रस–निष्पत्ति और साधारणीकरण	107–122
12.	रस–निष्पत्ति–सूत्र की व्याख्या एवं भट्टनायक का मत	123–130
13.	रस–निष्पत्ति विषयक भट्टलोल्लट का मत	131–135
14.	रस–निष्पत्ति विषयक शंकुक का मत	136–140
15.	रस–निष्पत्ति सम्बन्धी अभिनवगुप्त की व्याख्या	141–153
16.	साधारणीकरण संबंधी भट्टनायक का विवेचन	154–158
17.	साधारणीकरण – अभिनवगुप्त के विशेष संदर्भ में विवेचन	159–163
18.	साधारणीकरण – जगन्नाथ के विशेष संदर्भ में विवेचन	164–173
19.	आचार्य विश्वनाथ और रामचन्द्र शुक्ल के साधारणीकरण से संबंधित मत	174–180
20.	भारतीय काव्यशास्त्र पर आधारित बहुविकल्पीय प्रश्न	181–189

भारतीय आचार्यों के अनुसार काव्य की परिभाषा और स्वरूप

रूपरेखा

1.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
1.2 प्रस्तावना
1.3. काव्य की परिभाषा
 1.3.1. संस्कृत आचार्यों के अनुसार
 1.3.2. हिन्दी के आचार्यों के अनुसार
 1.3.3. स्व–मूल्यांकन
1.4. काव्य का स्वरूप
 1.4.1. अनुभूति तत्व
 1.4.2. विचार तत्व
 1.4.3. कल्पना तत्व
 1.4.4. शैली तत्व
 1.4.5. स्व–मूल्यांकन
1.5. काव्य के रूप
 1.5.1. प्रबंध काव्य
 1.5.2. खंड काव्य
 1.5.3. मुक्तक काव्य
 1.5.4. गीति काव्य
 1.5.5. स्व–मूल्यांकन
1.6. सारांश
1.7. कठिन शब्द
1.8. अभ्यासार्थ प्रश्न
1.9. उत्तर कुंजी
1.10. संदर्भ ग्रंथ

1.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय का उद्देश्य अपको भारतीय आचार्यों के अनुसार काव्य की परिभाषाओं, तत्वों व रूप से परिचित करवाना है।

इस अध्याय का विस्तार से अध्ययन करने के उपरान्त आप भारतीय आचार्यों के अनुसार काव्य की परिभाषाओं, तत्वों व रूप को पूर्ण रुप से समझने में सक्षम होंगे।

1.2 प्रस्तावना

प्रिय छात्रगण ! काव्य का कर्त्ता या निर्माता 'कवि' कहलाता है। संस्कृत में कवि को 'कविमनीषी परिभू स्वयंभू' कहा गया है अर्थात् कवि बुद्धिमान, सम्पूर्ण को आवृत्त करने वाला तथा स्वयं उत्पन्न होने वाला होता है। वस्तुतः कवि ब्रह्मा के समान निर्माता, रचयिता, कर्त्ता व सृष्टा माना गया है। कवि अपनी मौलिक कल्पनाओं, उद्भावनाओं और प्रेरणाओं से काव्य की सृष्टि करता है। अब प्रश्न उठता है कि काव्य क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? वस्तुतः काव्य बड़ा सूक्ष्म और व्यापक विषय है। उसे परिभाषा या परिधि में बाँधना अत्यंत कठिन कार्य है, फिर भी संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों ने काव्य के लक्षण दिये हैं जिनके आधार पर काव्य के स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता है।

1.3. काव्य की परिभाषा

काव्य की परिभाषा जानने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि 'काव्य' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ क्या है ? कव्यशास्त्रियों ने 'कवि' शब्द से काव्य की व्युत्पत्ति मानी है। 'कवि' शब्द 'कु' धातु में 'इच' प्रत्यय लगने से बना है। 'कु' धातु का अर्थ है– शब्द करना, बोलना, कलरव करना आदि। आचार्यों के अनुसार 'कवि' वह व्यक्ति है जो शब्द करता है, बोलता है या कलरव करता है जो आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त है। 'काव्य' शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को जानना आवश्यक है। 'कवेः कर्म काव्यम' के अनुसार कवि का कर्म (कार्य) ही काव्य है।

वस्तुतः अनुभूति की सुन्दर, सुसम्बद्ध और भाषिक अभिव्यक्ति को 'काव्य' कहते हैं। भारतीय आचार्यों में संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों ने अपने–अपने दृष्टिकोण से परिभाषाएं देकर काव्य के स्वरूप को समझाने का प्रयास किया है। सुविधा की दृष्टि से काव्य की परिभाषाओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है – (अ) संस्कृत के आचार्यों के अनुसार (आ) हिन्दी के आचार्यों के अनुसार।

1.3.1. संस्कृत के आचार्यों के अनुसार

संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में आचार्य भरत का नाट्यशास्त्र प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है जिसमें काव्य के 36 लक्षण दिये गये हैं। आचार्य भरत ने काव्य के विशिष्ट लक्षणों की ओर संकेत करते हुए काव्य को परिभाषित करने का प्रयास किया है –

मृदुललित पदाढयं गूढ़ शब्दार्थहीनं।
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्ग संधिसंधानयुक्तम्।
स भवति शुभ काव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम्।।

(नाट्यशास्त्र)

अर्थात् 'नाटक का अवलोकन करने वालों के लिए शुभ काव्य वह होता है जिसकी रचना कोमल और ललित पदों में की गई हो, जिसमें शब्द और अर्थ गूढ़ न हो, जिसे जनसाधारण सरलता से समझ सके, जो तर्क–संगत हो, जिसमें नृत्य की योजना हो, जिसमें भिन्न–भिन्न रसों का समावेश हो और जिसमें कथानक संधियों का पूरा निर्वाह किया गया हो।' निस्संदेह यह परिभाषा व्यापक है। इसमें काव्य के प्रमुख लक्षणों की ओर संकेत किया गया है। इसे काव्य की तर्कसंगत पूर्ण परिभाषा कहना उचित नहीं लगता।

काव्यशास्त्र के दूसरे महत्त्वपूर्ण आचार्य भामह है। उनके अनुसार–**'शब्दार्थों सहितौ काव्यम्'** अर्थात् शब्द और अर्थ का संयोग ही काव्य है। यहाँ शब्द और अर्थ को काव्य कहने में अतिव्याप्ति दोष झलकता है। आचार्य भामह ने शब्द और अर्थ को ही काव्यत्व माना है। ये अलंकार को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। उन्होंने काव्य–लक्षणों की स्पष्ट प्रस्तुति नहीं की है। उनकी परिभाषा का दायरा भी संकुचित है जिसमें केवल शब्द और अर्थ की ही चर्चा की गई है।

आचार्य दण्डी के अनुसार, **"शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली"** अर्थात् इष्ट अर्थ को प्रकट करने वाली पदावली शरीर मात्र है। दण्डी ने अर्थ–चेतना को काव्य की मूल चेतना माना है।

रुद्रट के अनुसार 'ननु शब्दार्थौं काव्यं' अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों ही काव्य हैं। उन्होंने शब्दार्थ युगल को महत्ता देते हुए शब्द लालित्य के साथ अर्थ लालित्य की भी वकालत की है। उनकी मान्यता है कि शब्द और अर्थ दोनों कवि–कल्पना प्रसूत होते हैं।

ध्वनिकार आनंदवर्द्धन के अनुसार – '**शब्दार्थ शरीरं तावत्काव्यम्**' अर्थात् काव्य तो शब्दार्थ के शरीर वाला है।

आचार्य कुंतक के अनुसार – **"शब्दार्थो सहितौ वक्र व्यापारशालिना बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम्"** अर्थात् वक्र व्यापारशाली और किसी सूत्र में व्यवस्थित शब्दार्थ काव्य है। इस परिभाषा में स्पष्टता का अभाव है। यहाँ 'व्रक' और 'बध' शब्द स्पष्ट नहीं है। फिर भी इस परिभाषा से तीन बातें स्पष्ट होती हैं – काव्य में शब्द और अर्थ का समान महत्त्व है, बंध में व्यवस्थित शब्दार्थ ही काव्य है तथा काव्य उक्ति रूप है।

'सरस्वती–कण्ठा भरण' के रचयिता भोजराज ने काव्य की परिभाषा देते हुए कहा है – **"निर्दोषं गुणवत् काव्यंमलंकारैरलंकृ तम् रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्ति प्रीतिउच विदन्ति।"** अर्थात् दोष रहित, गुण सहित, अलंकार–रसयुक्त काव्य की सृजना करने वाला कवि कीर्ति के साथ सुख को भी भोगता है। भोजराज ने इस परिभाषा में सामान्यतः काव्य की विशेषताओं की ओर ही संकेत किया है। वाग्भट के अनुसार काव्य की परिभाषा इस प्रकार है –

> **''साधु शब्दर्थ संदर्भ गुणालंकारं भूषितम्।**
> **स्फुटरीतिरसोयेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तयं।।''**

अर्थात् काव्य सुंदर शब्द और अर्थ का ऐसा संदर्भ है जो गुण और अलंकार से विभूषित होता है और जिसमें रीति और रस स्फुट रूप में विद्यमान होते हैं। कवि को कीर्ति प्राप्त करने हेतु ऐसी रचना करनी चाहिए। यहाँ वाग्भट ने शब्द और अर्थ को समान महत्त्व दिया है।

'चन्द्रालोक' के रचयिता आचार्य जयदेव के अनुसार काव्य की परिभाषा इस प्रकार है – **"निर्दोषं गुणालंकारलक्षणरीतिवृत्तिमत् वाक्यं काव्यं"** अर्थात् दोषहीन, गुण, अलंकार, रीति और वृत्ति इन सभी उपादनों से पूर्ण वाक्य को काव्य कहते हैं। उनकी यह पंक्ति परिभाषा न होकर काव्य के तत्वों का संग्राहक वाक्य लगता है। इस परिभाषा में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों का आभास मिलता है। इसमें भावानुभूति की अपेक्षा कथन की चारुता पर अधिक बल दिया गया है।

आचार्य मम्मट ने काव्य की परिभाषा देते हुए कहा है **"तद्दोषौ शब्दार्थौं सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"** अर्थात् दोषहीन, गुणयुक्त और कभी–कभी अलंकार से रहित शब्दार्थ को काव्य कहा है। वस्तुतः यह परिभाषा काव्य को निश्चित परिधि में बाँधती हुई भी काव्य का स्पष्ट और निश्चित स्वरूप प्रस्तुत नहीं करती। यह परिभाषा काव्य के गुण–दोषों

को ही संकेतित करती है। 'सगुण' शब्द केवल काव्य की विशेषता को प्रस्तुत करता है, व्यापक अर्थ को नहीं। मम्मट के अनुसार गुण काव्य के आवश्यक अंग है। उन्होंने गुणों को काव्य का नित्य अंग माना है और अलंकारों को अनित्य।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार **"अदोषौ, सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थो काव्यम्"** अर्थात् दोष रहित, गुण सहित, अलंकार युक्त शब्दार्थ ही काव्य है। आचार्य हेमचन्द्र अलंकारों को काव्य का अनिवार्य तत्व मानते हैं। उन्होंने दोषों के त्याग और गुणों की ग्राह्यता पर मम्मट की अपेक्षा कम बल दिया है। इस परिभाषा को पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, **"वाक्यं रसात्मकं काव्यं"** अर्थात् रसयुक्त वाक्य ही काव्य है। उनके अनुसार विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से जिसकी निष्पत्ति होती है, वह रस, जिस काव्य में निहित हो, वह काव्य है। आलोचकों का मत है कि इस दृष्टि से रस की अनिवार्य शर्त के कारण काव्य का क्षेत्र संकीर्ण हो जाएगा। फिर रस विहीन काव्य–पंक्तियों का क्या होगा ? इस दृष्टि से अलंकार और उक्ति वैचित्र्य पूर्ण काव्य–पंक्तियों का क्या होगा ? यहां यह उल्लेखनीय है कि केवल रस मात्र को ही काव्य मानने से काव्य के अन्य तत्त्व गौण नहीं हो जाते। आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा काव्य के एक महत्वपूर्ण तथ्य की प्रस्तोता है, इसमें कोई संदेह नहीं।

आचार्य पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है –

''रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।"

अर्थात् रमणीय अर्थ को प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य है। यह परिभाषा अपनी व्यापकता के कारण रसवादी आचार्यों की परिभाषाओं से एक कदम आगे है। पं० जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द' जोड़कर उस अलौकिक आनंद की ओर संकेत किया है, जो कविता का प्राणतत्त्व है। 'रमणीय' शब्द के कारण भाव, अलंकार, ध्वनि आदि सभी काव्य की परिधि में आ जाते हैं।

आचार्य विद्याधर के अनुसार **'कवयतीति कविः तस्य कर्म काव्यम्'** अर्थात् जो वर्णन करता है, कविता करता है, उसके कर्म को 'काव्य' कहते हैं। आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार **'कवनीयं काव्यं'** अर्थात् जो वर्णनीय है वही काव्य है। 'मेदिनी कोश' के अनुसार **'कवेरिदम् काव्यं भावो वा इति काव्यम्'** अर्थात् काव्य कवि का भाव या रचना है।

1.3.2. हिन्दी के आचार्यों के अनुसार

हिन्दी के अधिकांश आचार्यों ने काव्य के स्वरूप पर गंभीरता से विचार किया है किन्तु अधिकांश विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं में मौलिकता कम दिखाई देती है। हिन्दी के विद्वानों पर संस्कृत के आचार्यों का अधिक प्रभाव दिखाई देता है। हिन्दी आचार्यों की काव्य सम्बन्धी परिभाषाएं इस प्रकार हैं।

आचार्य चिन्तामणि ने अपने काव्य–शास्त्रीय ग्रन्थ 'कविकुल कल्पतरु' में काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है–

सगुन अलंकारन सहित, दोष रहित जो होई।
शब्द अर्थ वारौ कवित, विबुध कहत सब कोई।।

अर्थात् गुण युक्त, अलंकार सहित, दोष–रहित तथा शब्द–अर्थ सहित सृष्टि को कवित्त (काव्य) कहते हैं। इस परिभाषा पर संस्कृत के आचार्य मम्मट तथा आचार्य हेमचन्द्र का अधिक प्रभाव दिखाई देता है।

आचार्य कुलपति मिश्र ने काव्य को परिभाषित करते हुए कहा है –

दोष रहित अरु गुन सहित कछुक अल्प अलंकार।
सबद अरथ सो कवित है ताकौ करौ विचार।।

अर्थात् दोष रहित, गुण सहित, अल्प अलंकारों से युक्त, शब्द अर्थ सहित रचना को कवित्त (काव्य) कहते हैं। इस परिभाषा पर आचार्य मम्मट के 'काव्य–प्रकाश' का प्रभाव दिखाई देता है।

आचार्य सूरति मिश्र ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है –

वरनन मनरंजन जहाँ रीति अलौकिक होइ।
निपुन कर्म कवि कौ जुतिहिं काव्य कहत सब कोइ।।

अर्थात् अलौकिक रीति का मनोरंजन–पूर्ण वर्णन करने वाले कविकर्म को काव्य कहते हैं। इस परिभाषा पर भी संस्कृत के आचार्यों का प्रभाव दिखाई देता है।

महाकवि केशवदास अलंकारवादी आचार्य थे। उनके अनुसार काव्य की परिभाषा इस प्रकार है–

जदपि सुजाति सुलच्छिनी, सुवास सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न विराजही कविता बनिता मित्त।।

आचार्य कवि देव ने काव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है–

सब्द जीव तिहि अरथ पन, रसमत सुजस सरीर।
चलत वहै नुग छंद गत, अलंकार गंभीर।।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, "सादगी, असलियत और जोश, यदि ये तीनों गुण कविता में हो तो कहना ही क्या है। बहुधा अच्छी कविताओं में भी इनमें से एक आध गुण की कमी पाई जाती है। कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए। कविता (काव्य) प्रभावशाली रचना है, जो पाठक या श्रोता के मन पर आनंदमय प्रभाव डालती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है। उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द–विधान करती आई है, उसे कविता (काव्य) कहते हैं।''

आचार्य डॉ० नगेन्द्र ने काव्य की परिभाषा देते हुए कहा है – "काव्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा है। ये प्रेरणा व्यक्ति के अंतरंग अर्थात् उसके भीतर होने वाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से उद्भूत होती है।''

बाबू श्यामसुंदर दास के अनुसार "हम किसी पुस्तक को काव्य की संज्ञा तभी दे सकते हैं, अगर वह कला के उद्धेश्यों को पूरा करती है।"

जयशंकर प्रसाद के अनुसार "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचना है। पंत के अनुसार "कविता (काव्य) हमारे पूरिपूर्ण क्षणों की वाणी है।"

इस प्रकार संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों ने अपने–अपने विचारानुसार काव्य को परिभाषित करने का प्रयास किया है। सभी परिभाषाओं का निष्कर्ष यह है कि काव्य मानव की अनुभूतियों की सुन्दर, सशक्त भाषिक अभिव्यक्ति है। परिभाषा सम्बन्धी विशिष्ट निष्कर्ष इस प्रकार हैं –

1. काव्य शब्द व अर्थ की पद्यबद्ध अभिव्यक्ति है।
2. काव्य के शब्द और अर्थ–दोनों पक्ष सुंदर होते हैं।
3. काव्य का जन्म आवेषमयी अनुभूति से होता है।
4. काव्य में अनुभूतियों को कल्पना द्वारा संवारकर प्रस्तुत किया जाता है।
5. काव्य रमणीय अर्थ का प्रतिपादक होता है जिसमें कल्याणकारी भावनाओं का सन्निवेश होता है।

1.3.3 स्व–मूल्यांकन

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा।

1. कव्यशास्त्रियों ने ——————————शब्द से काव्य की व्युत्पत्ति मानी है।
2. ———————————की सुन्दर, सुसम्बद्ध और भाषिक अभिव्यक्ति को 'काव्य' कहते हैं।
3. आचार्य —————————का नाट्यशास्त्र प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है
4. काव्यशास्त्र के दूसरे महत्त्वपूर्ण आचार्य ——————————है। उनके अनुसार–'शब्दार्थों सहितौ काव्यम्'
5. —————————ने अर्थ–चेतना को काव्य की मूल चेतना माना है।
6. ——————————के अनुसार 'ननु शब्दार्थों काव्यं' अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों ही काव्य हैं।
7. 'सरस्वती–कण्ठा भरण' के रचयिता ——————————हैं।
8. आचार्य जयदेव के अनुसार ————————की परिभाषा इस प्रकार है – "निर्दोषं गुणालंकारलक्षणरीतिवृत्तिमत् वाक्यं काव्यं''।
9. आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, ————————————————अर्थात् रसयुक्त वाक्य ही काव्य है।
10. ————————————के अनुसार 'कवेरिदम् काव्यं भावो वा इति काव्यम्' अर्थात् काव्य कवि का भाव या रचना है।
11. आचार्य चिन्तामणि ने अपने काव्य–शास्त्रीय ग्रन्थ ———————————————————— में काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है
12. महाकवि केशवदास ————————————आचार्य थे।
13. आचार्य ——————————————————————के अनुसार, "सादगी, असलियत और जोश, यदि ये तीनों गुण कविता में हो तो कहना ही क्या है।
14. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ————————— कहलाती है। उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है।
15. बाबू श्यामसुंदर दास के अनुसार "हम किसी पुस्तक को काव्य की संज्ञा तभी दे सकते हैं, अगर वह ——————के उद्धेश्यों को पूरा करती है।"

1.4. काव्य का स्वरूप

काव्य के स्वरूप से तात्पर्य है – 'काव्य की बनावट'। काव्य के स्वरूप का निर्धारण काव्य–तत्त्वों और काव्य–रूपों के आधार पर किया जा सकता है। काव्य की रचना में जिन उपादानों की आवश्यकता होती है, वे काव्य के निर्माता तत्त्व कहलाते हैं जिनके अभाव में काव्य–रचना की कल्पना नहीं की जा सकती। काव्यशास्त्रीय विद्वानों ने काव्य–शरीर को रूप देने वाले चार तत्त्व माने हैं – अनुभूति, विचार, कल्पना व शैली।

1.4.1. अनुभूति तत्त्व

अनुभूति काव्य–सृजन का प्राणतत्त्व है। काव्य में अनुभूति की ही अभिव्यक्ति होती है और पाठक उस अनुभूति को ही प्राप्त करता है। काव्य की संपूर्ण गतिविधियां अनुभूति को ही लेकर चलती हैं। सामान्यतः अनुभूति दो प्रकार की होती है – स्वानुभूति और परानुभूति। स्वानुभूति में कवि आपबीती बातों को अनुभूत करता है। परानुभूति में जगबीती घटनाएं आती हैं। कवि जगबीती घटनाओं या सुख–दुःखात्मक संवेदनाओं का अहसास इस तरह करता है ताकि वे उसकी निजानुभूति का हिस्सा बन सकें। उदाहरणार्थ तुलसी ने अपने 'मानस' में परानुभूतियों को इस तरह व्यक्त किया है मानो वे स्वयं कवि की अनुभूतियाँ हों। भाव और अनुभूति में अंतर है। सुप्तावस्था में जो प्रवृत्ति भाव कहलाती है, जागृतावस्था में वही अनुभूति बन जाती है। कवि या साहित्यकार अपनी अनुभूति के आधार पर ही रचना करता है। इस प्रकार अनुभूति काव्य का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

1.4.2. विचार तत्त्व

यह भी काव्य का महत्त्वपूर्ण निर्माता तत्त्व है। विचार तत्त्व का आधार बुद्धि होती है। मानव में समझने विचार करने की अद्भुत क्षमता होती है। वह खुली आँखों से संसार की सभी वस्तुओं का पर्यावेक्षण करता है और बुद्धि द्वारा उनका मूल्यांकन करता है। भावनाओं को बाँधकर उन्हें एकत्र प्रस्तुत करना विचार तत्त्व का कार्य–क्षेत्र है। वस्तुतः काव्य में अनुभूति के निर्बाध प्रवाह को, कल्पना की उड़ान को तथा भाषा के अनावश्यक अलंकरण को मर्यादित करने का कार्य विचार तत्त्व का है। इस प्रकार विचार तत्त्व अनुभूति, कल्पना और भाषा को नियंत्रित करके काव्य को रोचक और सर्व संवेद्य बनाता है। कवि जिस जीवन–दर्शन को अपने काव्य में गूँथता है, वह विचार तत्त्व की ही देन है। कवि की अन्तर्दृष्टि, रचना का वर्ण्य–विषय, रचना का संदेश आदि विचार–तत्त्व के ही कार्य क्षेत्र हैं। उदाहरणार्थ तुलसी का समन्वयवाद व प्रसाद का मानवतावाद और समरसतावाद के पीछे विचार तत्त्व ही कार्य कर रहा है।

किसी रचना में आधिकारिक एवं प्रासंगिक कथा का विकास, पात्रों का चरित्र–चित्रण, संवाद योजना, परिवेश अंकन, भाषा की प्रकृति, आदि सभी बातें विचार–तत्त्व पर ही निर्भर करती हैं। विचार तत्त्व की ही सहायता से कवियों ने पौराणिक और ऐतिहासिक आख्यानों की आज के संदर्भों में पुर्नव्याख्या की है इस प्रकार काव्य–निर्माण में विचार तत्त्व की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

1.4.3. कल्पना तत्त्व

'कल्पना' का अर्थ है – रूप निर्माण करने वाली शक्ति या 'मानस चित्र' बनाने की क्रिया। काव्य–रचना की संपूर्ण गतिविधियाँ कल्पना पर ही निर्भर करती हैं। कल्पना के तीन मुख्य कार्य हैं – रूप विधान, काव्य–संसार का सृजन तथा भाषा की कलात्मक संरचना। जीवन और जगत के विविध दृश्यों को प्रस्तुत करने में कल्पना की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। निराकार वस्तुओं को आकार देना, किसी दृश्य को चित्रमय बनाना, किसी पात्र को साक्षात् बनाना, घटना की पृष्ठभूमि प्रदान करना, बिम्बात्मकता, प्रतीकात्मक आदि सभी बातें कल्पना के द्वारा ही संभव हैं। वस्तुतः कल्पना,

काव्य–रचना की विधायिका शक्ति है। संस्कृत काव्यशास्त्र में इसे 'प्रतिभा' कहा गया है। भाषिक संरचना में भी कल्पना की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। बिम्ब योजना, अप्रस्तुत योजना, अलंकार योजना आदि कल्पना के द्वारा ही संभव है।

1.4.4. शैली तत्त्व

'शैली' से तात्पर्य है भाषा के प्रयोग की विधि अर्थात् भाषा शैली। काव्य–रचना का माध्यम भाषा–तत्त्व ही होता है। भाषा के माध्यम से ही कवि अपने कथ्य को प्रस्तुत करता है। शब्द, अर्थ, पद, वाक्यांश वाक्य, कहावतें–मुहावरें आदि सभी भाषा के अन्तर्गत आते हैं। वस्तुतः भाषिक संरचना ही किसी कवि की संवेदना को गौरव प्रदान करने में सक्षम होती है। अभिव्यक्ति को सफल बनाने में शैली की विशिष्ट भूमिका होती है। किसी कवि की सौंदर्यानुभूति की बिम्बात्मक प्रस्तुति शैली के द्वारा ही होती है। उत्तम शैली वही मानी जाती है जो कवि की वस्तु को सपाट कथन के रूप में प्रस्तुत न करके चित्रात्मक रूप में प्रस्तुत करे। काव्य को सशक्त, सफल और सुंदर बनाने का दायित्व शैली का है।

काव्य के स्वरूप निर्धारण एवं निर्माण में उक्त चारों तत्त्वों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। वस्तुतः चारों तत्त्व काव्य के भाव पक्ष और कला पक्ष को पुष्ट करते हैं तथा काव्य–सौंदर्य में अभिवृद्धि करते हैं।

1.4.4 स्व–मूल्यांकन

प्रिय विद्यार्थियों ! निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर आप अभी तक प्राप्त ज्ञान का स्व–मूल्यांकन कर सकते हैं।

1. काव्य के स्वरूप से तात्पर्य है – 'काव्य की बनावट'। (   )
2. काव्यशास्त्रीय विद्वानों ने काव्य–शरीर को रूप देने वाले तीन तत्त्व माने हैं। (   )
3. अनुभूति काव्य–सृजन का प्राणतत्त्व है। (   )
4. सामान्यतः अनुभूति दो प्रकार की होती है – स्वानुभूति और परानुभूति। (   )
5. भाव और अनुभूति में कोई अंतर नहीं है। (   )
6. विचार तत्त्व का आधार बुद्धि होती है। (   )
7. विचार तत्त्व की ही सहायता से कवियों ने पौराणिक और ऐतिहासिक आख्यानों की आज के संदर्भों में पुर्नव्याख्या की है। (   )
8. रूप निर्माण करने वाली शक्ति या 'मानस चित्र' बनाने की क्रिया विचार से संभव है। (   )
9. कल्पना, काव्य–रचना की विधायिका शक्ति है। (   )
10. शब्द, अर्थ, पद, वाक्यांश वाक्य, कहावतें–मुहावरें आदि सभी भाषा के अन्तर्गत आते हैं। (   )

1.5. काव्य के रूप

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के तीन रूप माने गये हैं – प्रबंध, मुक्तक और गीति। तात्त्विक दृष्टि से इन तीनों में गहरा अंतर है।

1.5.1. प्रबंध काव्य

प्रबंध काव्य को दो भागों में बांटा गया है – महाकाव्य और खण्डकाव्य। महाकाव्य में कथावस्तु होती है। उसमें जीवन और जगत का व्यापक चित्रण होता है। कथानक में जीवन के विविध अंगों, घटनाओं व पात्रों का विशद, व्यापक और सजीव चित्रण होता है। महाकाव्य में किसी जाति या समाज की सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक परम्पराओं का सफल अंकन किया जाता है। एक समालोचक के अनुसार, "महाकाव्य अतीत का गायक, वर्तमान का चित्रकार और भविष्य का दृष्टा होता है।'' महाकाव्य की कथा विस्तृत और पूर्ण जीवनगाथा होती है। वह आठ या आठ से अधिक सर्गों में गठित होती है। कथा का प्रारंभ आशीर्वचन या मंगलाचरण से होता है। महाकाव्य का नायक कोई देवता, उच्च कुलोत्पन्न क्षत्रिय अथवा राजा हो सकता है। नायक का धीरोदात्त गुणों से युक्त होना आवश्यक है। इसमें सभी रसों का होना आवश्यक है किन्तु श्रृंगार, वीर, शांत में से किसी एक रस का प्रमुख होना आवश्यक है। सर्ग में एक ही छंद आवश्यक है किन्तु सर्ग के अंत में छंद बदलना चाहिए। जीवन की सभी घटनाओं, प्रकृति के विभिन्न रूपों तथा विविध भावों का वर्णन महाकाव्य में आवश्यक रूप से होता है। महाकाव्य का मुख्य उद्देश्य किसी महान् आदर्श की स्थापना करना होता है।

1.5.2. खण्ड काव्य

खण्डकाव्य भी प्रबंधात्मक होता है किन्तु उसके कथानक में संपूर्ण जीवन के स्थान पर किसी खण्ड या किसी घटना विशेष की प्रस्तुति होती है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार देश के एक खण्ड या अंश का अनुसरण करने वाली रचना खण्डकाव्य कहलाती है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध समीक्षक आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार, "महाकाव्य के ही ढंग पर जिस काव्य की रचना होती है, जिसमें पूर्ण जीवन ग्रहण न करके खण्ड जीवन ही ग्रहण किया जाता है, उसे खण्ड काव्य कहते हैं।'' खण्डकाव्य में कथा का विस्तार नहीं होता। इसमें प्रासंगिक कथाओं का भी अभाव रहता है। महाकाव्य की अपेक्षा इसमें पात्रों की संख्या सीमित होती है। खण्डकाव्य में एक ही छंद का प्रयोग किया जाता है। इसका उद्देश्य काल सापेक्ष उपदेश देना है।

1.5.3. मुक्तक काव्य

काव्य का एक स्वरूप मुक्तक भी है। मुक्तक वह रचना है जो कथा–सूत्र के बंधन से मुक्त होती है। इसके छंद पूर्वापर क्रम से मुक्त, स्वतः पूर्ण और स्वतंत्र होते हैं। इन छंदों का अर्थ जानने के लिए किसी आगे–पीछे के प्रसंग को जानना आवश्यक नहीं होता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, "यदि प्रबंध–काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता"। डॉ० रामअवध द्विवेदी ने चार विशेषताओं की ओर संकेत किया है–

1. लघु आकार अथवा सीमित विस्तार।
2. स्वतंत्र, अनिबद्ध तथा अनागिलित अस्तित्व।
3. रसोन्मेष की क्षमता से युक्त।
4. माधुर्य गुण एवं संगीतमयता।

युग्मक, विशेष क, कुलापक, कुलक, कोण, प्रघट्टक, विकर्णक, संघात आदि मुक्तक के अनेक भेद हैं।

1.5.4. गीति काव्य

वैसे तो गीतिकाव्य मुक्तक काव्य का ही एक भेद है। महादेवी वर्मा के अनुसार, "सुख–दुःख की भावावेशमयी अवस्था, विशेष कर गिने–चुने शब्दों में स्वर–साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीति है"। वैयक्तिकता, भावात्मकता, रागात्मकता, संगीतात्मकता, संक्षिप्तता, कलात्मक शैली आदि गीतिकाव्य की महत्त्वपूर्ण विशेषताएं हैं। गीतिकाव्य के दो भेद हैं – लोकगीत और साहित्यिक गीत। लोकजीवन को व्यक्त करने वाले गीत लोकगीत कहलाते हैं। इन गीतों में भावमयता और गेयता का प्राधान्य होता है। लोकगीत, जन्म, विवाह, होली आदि अवसरों पर गाये जाते हैं। साहित्यिक गीतों में व्यक्तित्व की प्रधानता होती है। इन गीतों में भावात्मकता, रागात्मकता, संगीतात्मकता, संक्षिप्तता आदि विशेष गुण होते हैं।

1.5.5 स्व–मूल्यांकन

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय से आपको काव्य से सम्बन्धित जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका स्व–मूल्यांकन आप निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा करें।

1. भारतीय काव्य शास्त्र में काव्य के कितने तीन रूप माने गये हैं ?

   (क) दो (ख) तीन (ग) एक (घ) चार

2. किसके कथानक में जीवन के विविध अंगों, घटनाओं व पात्रों का विशद, व्यापक और सजीव चित्रण होता है ?

   (क) खण्ड काव्य (ख) महाकाव्य (ग) मुक्तक काव्य (घ) गीति काव्य

3. किसके कथानक में संपूर्ण जीवन के स्थान पर किसी खण्ड या किसी घटना विशेष की प्रस्तुति होती है?

   (क) खण्ड काव्य (ख) महाकाव्य (ग) मुक्तक काव्य (घ) गीति काव्य

4. एक ही छंद का प्रयोग किसमें किया जाता है?

   (क) गीति काव्य (ख) महाकाव्य (ग) मुक्तक काव्य (घ) खण्ड काव्य

5. किसके छंद पूर्वापर क्रम से मुक्त, स्वतः पूर्ण और स्वतंत्र होते हैं?

   (क) गीति काव्य (ख) मुक्तक काव्य (ग) महाकाव्य (घ) खण्ड काव्य

6. "यदि प्रबंध–काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता"। यह कथन किसका है ?

   (क) डॉ० रामअवध द्विवेदी (ख) रामचन्द्र शुक्ल (ग) हजारी प्रसाद द्विवेदी (घ) महादेवी वर्मा

7. यह कथन किसका है कि, "सुख–दुःख की भावावेशमयी अवस्था, विशेष कर गिने–चुने शब्दों में स्वर–साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीति है"।

   (क) महादेवी वर्मा (ख) रामचन्द्र शुक्ल
   (ग) हजारी प्रसाद द्विवेदी (घ) डॉ० रामअवध द्विवेदी

8. डॉ० रामअवध द्विवेदी ने मुक्तक की कितनी विशेषताओं की ओर संकेत किया है?

   (क) दो (ख) तीन (ग) एक (घ) चार

1.6. सारांश

इस प्रकार काव्य के स्वरूप का विश्लेषण काव्य–तत्त्वों और काव्य–रूपों के आधार पर किया जा सकता है। काव्य–तत्त्वों के आधार पर काव्य के शरीर स्वरूप का पता चलता है और काव्य रूपों के आधार पर काव्य के वैविध्यपूर्ण रूपों का ज्ञान होता है। समय–समय के अनुसार काव्य–रूपों में परिवर्तन होता रहा है और होता रहेगा। भारतीय कव्यशास्त्रियों के अनुसार अनुभूति ही अभिव्यक्ति है और अभिव्यक्ति ही काव्य है। वस्तुतः हिन्दी काव्य परम्परा संस्कृत परम्परा से विशेष रूप से प्रभावित है।

1.7. कठिन शब्द

1. अवलोकन– आँखों से देखना
2. अतिव्याप्ति दोष – किसी लक्षण या कथन का व्यापक होना, यानी उसका विस्तार लक्ष्य से परे भी जाना।
3. संग्राहक– एकत्र करने वाला
4. संवेद्य– दूसरों को अनुभव कराने योग्य
5. पूर्वापर– अगला और पिछला

1.8. अभ्यासार्थ प्रश्न

1. **भारतीय आचार्यों के अनुसार काव्य की विभिन्न परिभाषाओं पर विचार कीजिए।**

____

____

____

____

____

2. **'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' के आधार पर काव्य की परिभाषा देते हुए काव्य की अन्य परिभाषाएं दीजिए।**

____

____

____

____

____

3. **काव्य के निर्माता तत्त्वों का विस्तृत परिचय दीजिए।**

____

____

____

____

____

4. काव्य के स्वरूप का परिचय देते हुए काव्य के विभिन्न रूपों का परिचय दीजिए।

5. महाकाव्य व खंडकाव्य की परिभाषा देते हुए दोनों में भेद बताइए।

6. मुक्तक काव्य की विशेषताएँ बताइए।

1.9 उत्तर कुंजी

1.1.3 स्व–मूल्यांकन

1. 'कवि' 2. अनुभूति 3. भरत 4. भामह 5. दण्डी 6.रुद्रट 7. भोजराज 8. काव्य 9. "वाक्यं रसात्मकं काव्यं" 10. 'मेदिनी कोश' 11. 'कविकुल कल्पतरु' 12. अलंकारवादी 13. महावीर प्रसाद द्विवेदी 14. ज्ञानदशा 15. कला

1.2.4 स्व–मूल्यांकन

1. सही 2. गलत 3. सही 4. सही 5.गलत 6. सही 7.सही 8. गलत 9. सही 10. सही

1.5.5 स्व–मूल्यांकन

1. तीन 2. महाकाव्य 3. खण्डकाव्य 4. खण्डकाव्य 5. मुक्तक काव्य 6. रामचन्द्र शुक्ल 7. महादेवी वर्मा 8. चार

1.10. संदर्भ ग्रंथ

(1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा, हरियाणा ग्रंथ अकादमी पंचकूला, 2013

(2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकशन, वाराणसी, 2023

(3) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय, वाणी प्रकाशन, 2024

(4) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2019

काव्य हेतु एवं काव्य प्रयोजन

रूपरेखा

2.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
2.2. प्रस्तावना
2.3. काव्य हेतु
2.3.1 काव्य हेतुओं के प्रकार
2.3.1.1 शक्ति (प्रतिभा)
2.3.1.2 व्युत्पत्ति (निपुणता)
2.3.1.3 अभ्यास
2.3.1.4 स्व–मूल्यांकन
2.4. काव्य–प्रयोजन
2.4.1. संस्कृत काव्यशास्त्र में निरूपित काव्य प्रयोजन
2.4.1.1. यशसे
2.4.1.2. अर्थकृते
2.4.1.3. व्यवहार ज्ञान
2.4.1.4. शिवेतरक्षतये
2.4.1.5. सद्यः परिनिर्वतये
2.4.1.6. कान्तासम्मित उपदेश
2.4.1.7 स्व–मूल्यांकन
2.4.2 हिन्दी विद्वानों के अनुसार काव्य–प्रयोजन
2.4.3 पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार काव्य–प्रयोजन
2.4.4 स्व–मूल्यांकन
2.5 सारांश
2.6 कठिन शब्द
2.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
2.8 उत्तर कुंजी
2.9 पठनीय पुस्तकें

2.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय का उद्देश्य आपको काव्य–सृजन की प्रक्रिया में काव्य हेतु और काव्य–प्रयोजनों की विशिष्ट भूमिका से अवगत करवाना है।

इस अध्याय का विस्तार से अध्ययन करने के उपरान्त आपको यह ज्ञान अर्जित होगा कि काव्य की सृजन–प्रक्रिया में काव्य हेतु और काव्य–प्रयोजन दोनों की विशेष भूमिका रहती है। इसके साथ ही आप संस्कृत, हिन्दी और पाश्चात्य विद्वानों की काव्य– प्रयोजन संबंधी विचारधारा से भी अवगत हो सकेंगें।

2.2. प्रस्तावना

जिज्ञासु छात्रगण ! भारतीय आचार्यों ने काव्य–सृजन के उन हेतुओं, कारणों अथवा स्त्रोतों पर भी गहराई से विचार किया है जिसके संयुक्त प्रभाव से शब्द और अर्थ का अविच्छेद सम्बन्ध घटित होता है। भारतीय आचार्यों ने चिंतन, भावना और कल्पना से युक्त अनुभूति की आवश्यकता पर बल दिया है। वस्तुतः मानसिक सृजनात्मक क्षमता ही प्रतिभा है। आचार्य भामह ने काव्य–सृजन के लिए विशिष्ट प्रतिभा की आवश्यकता पर बल दिया है। आचार्य दण्डी स्वाभाविक प्रतिभा, शास्त्र ज्ञान, बहुज्ञता और सुदृढ़ अभ्यास को काव्य का हेतु मानते हैं। वे प्रतिभा के साथ शास्त्र ज्ञान और सतत् अभ्यास के बिना प्रतिभाशाली कवि भी काव्य–सृजन में विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

वस्तुतः काव्य–सृजन मानव चेतना का विकसित पुष्प है। कवि भावनाओं से आंदोलित होकर काव्य का सृजन करता है। कवि सृष्टा और क्रांतदर्शी होता है। काव्य–सृजन की प्रक्रिया में काव्य हेतु और काव्य–प्रयोजनाओं की विशिष्ट भूमिका होती है। दोनों का संक्षिप्त पर्यालोचन इस प्रकार है –

2.3. काव्य–हेतु

'काव्य–हेतु' से तात्पर्य है – काव्य–करण, काव्य–कारण, काव्य–साधन या प्रेरक तत्त्व। किसी वस्तु या घटना से प्रभावित होने की क्षमता सामान्य व्यक्ति और कवि–दोनों में होती है। आचार्य राजशेखर ने दोनों क्षमताओं को 'प्रतिभा' नाम दिया है। उन्होंने कवि की प्रतिभा को कारयित्री और पाठक या सहृदय की प्रतिभा को भावयित्री नाम दिया है। काव्य–निर्माण के लिए अनेक प्रेरक तत्त्व कार्य करते हैं, उन्हें काव्य–शास्त्रियों ने –'काव्य हेतु' नाम दिया है।

भारतीय काव्य शास्त्रियों में काव्य–हेतु की संख्या के संदर्भ में मतभेद हैं। जिन भारतीय आचार्यों ने काव्य हेतुओं पर विचार किया है, उनमें भामह, दण्डी, रुद्रट, कुंतक, वामन, मम्मट आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

आचार्य दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श ' नामक ग्रंथ में काव्य–हेतुओं की संख्या तीन मानी है –

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमंदश्चाऽभियोगोऽस्याः कारणं काव्य संपदः।।

अर्थात् नैसर्गिक प्रतिभा, निर्मल शास्त्र –ज्ञान और अमंद अभियोग (अभ्यास) – ये तीनों काव्य–संपत्ति में कारण होते हैं।

आचार्य भामह ने काव्य–हेतुओं पर विचार करते हुए प्रतिभा को अधिक महत्त्व देते हुए व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य–प्रक्रिया के लिए उपादेय बताया है। यथा –

गुरुपदेशादध्येतुं शास्त्रं जड़धियोऽप्यलम्।
काव्यं वु जायते जातुकस्यचित्प्रतिभावतः।।

अर्थात् जड़ बुद्धि के लोग भी गुरु के उपदेश से शास्त्र का अध्ययन करने में समर्थ हो सकते हैं किन्तु काव्य तो कभी–कभार किसी–किसी प्रतिभाशाली द्वारा रचा जा सकता है।

रुद्रट और कुंतक ने भी काव्य–हेतुओं की संख्या तीन मानी है – शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास। वामन ने तीन मुख्य काव्यहेतु माने हैं – लोक (लोक व्यवहार), विद्या (विभिन्न शास्त्र ज्ञान) और प्रकीर्ण। प्रकीर्ण के अन्तर्गत उन्होंने छः अन्य हेतुओं को सम्मिलित किया है–

1. लक्षत्व (काव्यों का अनुशीलन)
2. अभियोग (अभ्यास)
3. वृद्ध सेवा (गुरु द्वारा शिक्षा प्राप्त)
4. अवेक्षण (उपयुक्त शब्दों का व्यास (विश्लेषण) और अनुपयुक्त शब्दों का अपसारण (निष्कासन)
5. प्रतिमान (प्रतिभा)
6. अवधान (चित्त की एकाग्रता)

2.3.1 काव्य हेतुओं के प्रकारः

आचार्य मम्मट ने सर्वसम्मत तीन काव्य–हेतुओं की ओर संकेत किया है –

शक्ति निपुणता लोक शास्त्रकाव्याद्य वेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।

अर्थात् शक्ति (प्रतिभा) लोक जीवन (शास्त्र) तथा काव्य आदि के निरीक्षण एवं अनुशीलन से होने वाली निपुणता (व्युत्पत्ति) और काव्यज्ञों से शिक्षा प्राप्त करके अभ्यास करना आदि काव्य–रचना के हेतु हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आचार्य मम्मट ने पूर्वाचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य हेतुओं को प्रकारान्तर से स्थान दिया है। जिसे दण्डी ने 'निर्मल शास्त्र ज्ञान' कहा है, रुद्रट ने जिसे 'व्युत्पत्ति' कहा है, वामन ने जिसे 'लोकविद्या' कहा है, उसे मम्मट ने 'निपुणता' कहा है। जिसे दण्डी और वामन ने अभियोग और वृद्धसेवा कहा है उसे मम्मट ने 'अभ्यास' कहा है। अतः आचार्य मम्मट द्वारा प्रस्तावित काव्य–हेतुओं को स्वीकार करते हुए, उनका विश्लेषण इस प्रकार है –

2.3.1.1 शक्ति (प्रतिभा)

लक्षण – भामह, रुद्रट से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक सभी आचार्यों ने प्रतिभा का लक्षण दिया है और उसकी महत्ता प्रतिपादित की है। रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' में शक्ति के बारे में कहा है – "जिसके बल पर कवि विभिन्न काव्य–विषयों को अनुकूल शब्दों में अनायास अभिव्यक्त कर देता है, उसे 'शक्ति' कहते हैं"। रुद्रट ने प्रतिभा के दो रूप माने हैं – सहजा और उत्पाद्या। सहजा ईश्वर प्रदत्त और पूर्व–संस्कारों द्वारा संचित जन्मजात शक्ति है। उत्पाद्या अध्ययन, अभ्यास और सत्संग से प्राप्त होती है।

आचार्य भट्टलोल्लट ने 'प्रतिभा' की परिभाषा देते हुए कहा है – **"प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता"**। (साहित्यदर्पण, काणे नोट्स –5) अर्थात् नये–नये अर्थों का स्वतः उद्घाटन करने वाली प्रज्ञा प्रतिभा कहलाती है।

आचार्य कुन्तक ने भी 'प्रतिभा' की परिभाषा देते हुए कहा है–

"प्राक्तनाद्यतन संस्कार परिपाक प्रौढ़ा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः"। (वक्रोक्तिजीवित 1.29 (वृत्ति) अर्थात् पूर्व जन्म तथा इस जन्म के संस्कार से प्रौढ़ता को प्राप्त विशिष्ट कवित्व शक्ति 'प्रतिभा' कहलाती है।

आचार्य मम्मट के अनुसार 'प्रतिभा' की परिभाषा इस प्रकार है–

"शक्तिः कवित्वबीजः संस्काररूपः" (काव्य प्रकाश, 1ः 3 वृत्ति)

अर्थात् कवित्व निर्माण के बीजरूप विशिष्ट संस्कार को 'शक्ति' कहते हैं।

आचार्य जगन्नाथ के अनुसार, 'प्रतिभा' का स्वरूप इस प्रकार है –

"सा (प्रतिभा) काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थितिः"। (रस गंगाधर, 1 म आनन, पृ० 9)

अर्थात् काव्य रचना के अनुकूल शब्द और अर्थ को प्रस्तुत करने की क्षमता को 'प्रतिभा' कहते हैं।

आचार्य भामह ने प्रतिभा का महत्त्व स्पष्ट करते हुए कहा है कि शास्त्र –पठन तो गुरु उपदेश के द्वारा संभव है लेकिन काव्य–निर्माण के लिए प्रतिभा अपेक्षित है। आचार्य मम्मट ने तो प्रतिभा को कवित्व का बीज ही माना है। दण्डी ने प्रतिभा को आवश्यक हेतु माना है। आचार्य आनंदवर्द्धन के अनुसार शक्ति (प्रतिभा) के बिना यथार्थ काव्य की रचना हो ही नहीं सकती। आचार्य जयदेव के अनुसार जिस प्रकार लता की उत्पत्ति का हेतु मिट्टी और जल से युक्त बीज है, उसी प्रकार काव्य–रचना का हेतु व्युत्पत्ति और अभ्यास से युक्त प्रतिभा है। आचार्य हेमचन्द्र ने प्रतिभा को काव्य का हेतु माना है और व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा का परिष्कारक हेतु माना है –

"प्रतिभाऽस्य हेतुः। व्युत्पत्यभ्यासाभ्यां संस्कार्या।"

वस्तुतः काव्य–सृजन में प्रतिभा काव्य की मूल प्रेरक शक्ति है। प्रतिभा द्वारा ही कवि के अंतःकरण में प्रेरणा का स्फुरण होता है जिससे वह सुरम्य भावों की सृष्टि करता है। हिन्दी के विद्वानों में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० नगेन्द्र, जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' प्रभृति विद्वानों ने प्रतिभा का महत्त्व प्रतिपादित किया है। वस्तुतः प्रतिभा कवि की रचनात्मक क्षमता है जिससे वह अनुभूतिगत और अभिव्यक्तिगत उपादानों का कौशलपूर्ण संयोजन करके नूतन कृति को जन्म देता है।

2.3.1.2 व्युत्पत्ति (निपुणता)

'व्युत्पत्ति' से तात्पर्य है – कवि कर्म की निपुणता। इसे बहुज्ञता भी कहते हैं। 'व्युत्पत्ति' प्रतिभा के उपकारक के रूप में प्रयुक्त होती है। 'व्युत्पत्ति' से प्रतिभा परिष्कृत, प्रखर, चमत्कृत, शक्ति–सम्पन्न, मर्मस्पर्शिनी और सारग्रहिणी हो उठती है। यदि व्युत्पत्ति (निपुणता) न हो तो काव्यमर्मज्ञ, काव्यशास्त्रज्ञ, लोक व्यवहारपटु व्यक्ति काव्य–रचना में प्रवृत्त नहीं हो सकते। व्युत्पत्ति (निपुणता) के कारण ही ग्रामीण व अशिक्षित लोककवि भी लोकगीतों की रचना में प्रवृत्त हो सकते हैं। आचार्य हेमचन्द्र का मत है कि व्युत्पत्ति द्वारा प्रतिभा का संस्कार होता है। निपुणता काव्य और शास्त्र के अध्ययन और अध्यापन द्वारा तथा लोक व्यवहार के ज्ञान के आधार पर बलवती और पुष्ट होती है। 'कवि कण्ठा भरण' नामक ग्रंथ में कवियों के एक सौ कर्म बताये गये हैं जिनमें 'व्युत्पत्ति' प्रमुख है। भारतीय आचार्यों ने बहुज्ञता विषयक समस्त सामग्री को तीन भागों में विभाजित किया है– (क) लोकज्ञान – इसके अन्तर्गत बाहरी प्राकृतिक परिवेश और मानवीय प्रकृति को ग्रहण किया जाता है। (ख) शास्त्र ज्ञान – आचार्य मम्मट ने शास्त्र ज्ञान के अन्तर्गत छंदशास्त्र, व्याकरण शास्त्र, अभिधान शास्त्र के साथ विविध कलाओं, रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यों को सम्मिलित किया है। (ग) काव्य ज्ञान – आचार्यों ने इसके अन्तर्गत पूर्ववर्ती काव्यों के ज्ञान पर बल दिया है।

2.3.1.3 अभ्यास

काव्य रचना की दिशा में बार–बार निष्ठा और विवेक के साथ प्रयत्न को 'अभ्यास' कहते हैं। बार–बार अभ्यास से निखार आता है और काव्य–सृजन की गुणवत्ता में उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती है। आचार्य मंगल ने इसे प्रतिभा और व्युत्पत्ति से महत्तर माना है। मंगल नामक आचार्य ने इसे काव्य का प्रमुख हेतु माना है। प्रौढ़ कवियों और संभ्रांत व्यक्तियों के पास बैठकर ही कवि अपनी काव्यकला को चमका सकता है। अभ्यास से कविता मंज जाती है और उसमें नवीन चमक–दमक और नवीन शक्ति का संचार होता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने अभ्यास के कई प्रकारों की ओर संकेत किया है

और यह प्रतिपादित किया है कि अभ्यास से ही कोई व्यक्ति काव्य कला में निष्णात हो सकता है। वस्तुतः काव्य–रचना के सतत् अभ्यास द्वारा कवि विषयानुकूल शब्द, भाव, छंद, अलंकार आदि को अपनी रचना में समाहित करने में समर्थ हो सकता है किसी कवि ने ठीक ही कहा है –

करत–करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत–जात के, सिल पर परत निसान।।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास ये तीनों काव्य के मुख्य कारण हैं। तीनों ही काव्य के हेतु हैं। इनमें से किसी एक की कमी होने से काव्य–रचना असंभव है। एक समालोचक के अनुसार, "प्रतिभा काव्य का उपादान कारण है, व्युत्पत्ति और अभ्यास निमित्त कारण हैं।"

2.3.1.4 स्व–मूल्यांकन

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय में अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यदि आप रिक्त स्थान भरने में असमर्थ हैं तो आपको निराश होने की अवश्यकता नहीं। आप अभी तक के अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

1. काव्य–निर्माण के लिए अनेक प्रेरक तत्त्व कार्य करते हैं, उन्हें काव्य–शास्त्रियों ने .... नाम दिया है।
2. आचार्य दण्डी ने अपने.................................... नामक ग्रंथ में काव्य–हेतुओं की संख्या तीन मानी है।
3. भामह ने काव्य–हेतुओं पर विचार करते हुए प्रतिभा को अधिक महत्त्व देते हुए व्युत्पत्ति और अभ्यास को ....के लिए उपादेय बताया है।
4. रुद्रट और कुंतक ने भी काव्य–हेतुओं की संख्या ....मानी है।
5. ....ने तीन मुख्य काव्यहेतु माने हैं – लोक (लोक व्यवहार), विद्या (विभिन्न शास्त्रज्ञान) और प्रकीर्ण।
6. मम्मट ने पूर्वाचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य हेतुओं को प्रकारान्तर से स्थान दिया है। जिसे दण्डी ने ....कहा है।
7. रुद्रट ने जिसे 'व्युत्पत्ति' कहा है, वामन ने जिसे 'लोकविद्या' कहा है, उसे मम्मट ने .... कहा है।
8. रुद्रट ने प्रतिभा के दो रूप माने हैं – सहजा और ....।
9. ....ईश्वर प्रदत्त और पूर्व–संस्कारों द्वारा संचित जन्मजात शक्ति है।
10. भामह ने कहा है कि शास्त्र–पठन तो गुरु उपदेश के द्वारा संभव है लेकिन काव्य–निर्माण के लिए ....अपेक्षित है।
11. आचार्य ....के अनुसार शक्ति (प्रतिभा) के बिना यथार्थ काव्य की रचना हो ही नहीं सकती।
12. 'कवि कण्ठा भरण' नामक ग्रंथ में कवियों के एक सौ कर्म बताये गये हैं जिनमें .... प्रमुख है।

13. ....आचार्यों ने बहुज्ञता विषयक समस्त सामग्री को तीन भागों में विभाजित किया है।

14. काव्य रचना की दिशा में बार–बार निष्ठा और विवेक के साथ प्रयत्न को .... कहते हैं।

15. आचार्य ....ने इसे प्रतिभा और व्युत्पत्ति से महत्तर माना है।

2.4. काव्य–प्रयोजन

'काव्य–प्रयोजन' का शाब्दिक अर्थ है – काव्य का उद्देश्य। संसार में जो भी कार्य किये जाते हैं वे विशिष्ट उद्देश्य को लेकर किये जाते हैं। संस्कृत की एक उक्ति है – "प्रयोजन बिना मंदोऽपि न प्रवर्तते" अर्थात् प्रयोजन बिना मंद बुद्धि व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। वस्तुतः प्रयोजन के भीतर कोई प्रेरणा, लक्ष्य या लाभ की प्रवृत्ति छिपी रहती है।

2.4.1. संस्कृत काव्यशास्त्र में निरुपित काव्य–प्रयोजन

जब हम संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों द्वारा निरूपित काव्य–प्रयोजनों पर विचार करते हैं तो हमारा ध्यान भरत, भामह, वामन, भोजराज, रुद्रट, कुंतक आदि पर केन्द्रित होता है। सर्वप्रथम हमारा ध्यान नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत पर जाता है। जिन्होंने इस ग्रंथ में काव्य–प्रयोजनों पर गंभीर विचार किया है। उनके मतानुसार–

धर्म्म यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।।

अर्थात् नाट्य (काव्य) धर्म, यश और आयु का साधक, हितकारक, बुद्धि का वर्द्धक और लोकोपदेशक होता है।

आचार्य भामह ने भी काव्य–प्रयोजनों पर विचार करते हुए कहा है –

धर्मार्थ काम मोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्ति प्रीतिं च साधुकाव्य निबन्धनम्।।

अर्थात् उत्तम काव्य की रचना धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों को तथा समस्त कलाओं में निपुणता को, और प्रीति (आनन्द) तथा कीर्ति को उत्पन्न करती है।

आचार्य वामन और भोजराज ने कीर्ति और प्रीति को ही काव्य का प्रयोजन माना है। आचार्य रुद्रट ने पुरुषार्थ चतुष्टय के अतिरिक्त अनर्थ का उपशम, विपत्ति का निवारण, रोग से विमुक्ति तथा अभिमत वर की प्राप्ति आदि काव्य के प्रयोजन बताये हैं। ध्वनिकार आचार्य आनंदवर्धन ने 'प्रीति' को ही काव्य का प्रयोजन बताते हुए कहा है–

"तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्।।''

वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने चारों पुरुषार्थों के अतिरिक्त व्यवहार के औचित्य का ज्ञान, हृदय का आह्लाद, अन्तश्चमत्कार आदि काव्य के प्रयोजन बताये हैं।

आचार्य मम्मट का भारतीय काव्यशास्त्र में अन्यतम स्थान है। उन्होंने उपर्युक्त सभी विद्वानों के मतों को ग्रहण करते हुए, समन्वयात्मक दृष्टि प्रस्तुत करते हुए काव्य के निम्नलिखित प्रयोजनों की ओर संकेत किया है –

काव्यं यशसेऽर्थ कृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे।। (काव्य प्रकाश 1.2)

अर्थात् काव्य का प्रयोजन है – यश और धन की प्राप्ति, व्यवहार का ज्ञान, शिवेतर (अकल्याण) का नाश, तत्काल परम आनंद (रसास्वाद) की प्राप्ति और कान्ता सम्मित उपदेश। इस प्रकार आचार्य मम्मट के अनुसार काव्य के छः प्रयोजनों का विश्लेषण इस प्रकार है –

2.4.1.1. यशसे – काव्य का सृजन यश के लिए होता है। काव्य निर्माण से कवि की कीर्ति और यश का प्रसार होता है – कविकुल गुरु कालिदास, दण्डी, भारवि, वाण, तुलसीदास आदि ने काव्य निर्माण के द्वारा ही अपनी कीर्ति का प्रसार किया था।

2.4.1.2. अर्थकृते – काव्य धन प्राप्ति के लिए होता है क्योंकि भौतिक प्रलोभनों में धन ही विशेष है। कहा भी गया है – सर्वेगुणाः कांचनमाश्रयन्ति'। रीतिकाल में धन ही काव्य–सृजन का मुख्य आधार था। कहा जाता है कि रीतिकाल के कवि बिहारी को काव्य–सृजन के लिए राजा जयसिंह द्वारा एक–एक अशर्फी प्रदान की जाती थी।

2.4.1.3. व्यवहार ज्ञान – आचार्य मम्मट ने व्यवहार ज्ञान को भी काव्य का प्रयोजन माना है। संस्कृत के 'हितोपदेश', 'पंचतंत्र' आदि ग्रंथ तथा हिन्दी में गिरिधर और रहीम की रचनाएं इसी दृष्टिकोण से लिखी गई हैं। आचार्य मम्मट के इस मत का समर्थन करते हुए आचार्य कुन्तक ने कहा है – "सत्काव्य में औचित्य से युक्त व्यवहार चेष्टा का निदर्शन प्रधान रहता है।''

2.4.1.4. शिवेतरक्षतये – काव्य का निर्माण शिव से इतर अर्थात् अमंगल निवारण के लिए किया जाता है। काव्य का मुख्य उद्देश्य लोकहित है। आचार्य मम्मट ने मयूर नामक कवि की ओर संकेत किया है। कहा जाता है कि वे कुष्ठरोग से ग्रसित थे। अपने इस रोग को दूर करने के लिए उन्होंने शत श्लोकों में सूर्य की प्रशंसा की जिससे प्रसन्न होकर सूर्यदेव ने उसके शरीर को निरोग कर दिया।

2.4.1.5. सद्यः परनिर्वृतये – 'सद्य परनिर्वृतये' का अर्थ है – तत्काल आनंद की प्राप्ति अथवा सद्यः मुक्तावस्था। मम्मट के अनुसार आनंद की अनुभूति ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। इस काव्यानंद को 'ब्रह्मांनद सरोवर' कहा गया है। वस्तुतः काव्य एक ऐसा पदार्थ है जिसके प्रभाव से जीवन और जगत की कटुताएँ, कर्कशताएँ, पीड़ाएँ, विषमताएँ लुप्त हो जाती हैं और कवि, श्रोता व पाठक को लाभ की प्राप्ति होती है।

2.4.1.6. कान्तासम्मित उपदेश – उपदेश तीन प्रकार के माने गये हैं – प्रभु सम्मित उपदेश, मित्र सम्मित उपदेश और कान्ता सम्मित उपदेश। तीसरा उपदेश बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। काव्य का सृजन प्रियतमा के समान उपदेश प्रदान करने के लिए होता है। काव्य श्रोता को रसमग्न करके जीवनोपयोगी सद्शिक्षा देता है। कहा जाता है कि जयपुर के राजा जयसिंह नवोढ़ा रानी के प्रेमपाश में बंध गये थे। उन्होंने राज–काज संभालना भी बंद कर दिया था। कविवर बिहारी ने उन्हें एक दोहा लिखकर भेजा, जिसका उन पर जादू का सा प्रभाव पड़ा –

नहिं पराग नहिं मधुर मधुप, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सौं बिंध्यौ, आगे कौन हवाल।।

उपर्युक्त पर्यालोचन के आधार पर यह कहना उचित होगा कि आनंदानुभूति ही काव्य का सर्वप्रमुख प्रयोजन है। वस्तुतः कवि अपने काव्य में रागात्मक सम्बन्धों की सृष्टि करता है। कवि की अनुभूतियाँ काव्य में उदात्त रूप में प्रस्तुत होती हैं। कान्तासम्मित उपदेश भी काव्य का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है क्योंकि काव्य का मुख्य उद्देश्य राष्ट्र को चारित्रिक दृष्टि से उन्नत करना है। आचार्य मम्मट द्वारा प्रतिपादित सभी काव्य–प्रयोजन महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन 'व्यवहारविदे', 'शिवेतरक्षतये', 'संघः परनिर्वृतये', 'कान्तासम्मित उपदेश' आदि काव्य–प्रयोजन महत्त्वपूर्ण हैं। प्रकारान्तर से अन्य सभी आचार्यों ने इनका समर्थन भी किया है।

2.4.1.7. स्व–मूल्यांकन

प्रिय विद्यार्थियों ! आगे बढ़ने से पहले अपने अध्ययन को थोड़ा विश्राम दें और निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिन्ह्न द्वारा देकर अभी तक प्राप्त ज्ञान का स्व–मूल्यांकन करें–

1. आचार्य वामन और भोजराज ने कीर्ति और प्रीति को ही काव्य का प्रयोजन माना है। (   )
2. आचार्य आनंदवर्धन ने पुरुषार्थ चतुष्टय के अतिरिक्त अनर्थ का उपशम, विपत्ति का निवारण, रोग से विमुक्ति तथा अभिमत वर की प्राप्ति आदि काव्य के प्रयोजन बताये हैं। (   )
3. वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने चारों पुरुषार्थों के अतिरिक्त व्यवहार के औचित्य का ज्ञान, हृदय का आह्लाद, अन्तश्चमत्कार आदि काव्य के प्रयोजन बताये हैं। (   )
4. आचार्य मम्मट के अनुसार काव्य के छः प्रयोजनों है। (   )
5. काव्य निर्माण से कवि की कीर्ति और यश का प्रसार नहीं होता है। (   )
6. आचार्य मम्मट के अनुसार काव्य धन प्राप्ति के लिए नहीं होता है। (   )
7. कुन्तक ने कहा है – "सत्काव्य में औचित्य से युक्त व्यवहार चेष्टा का निदर्शन प्रधान रहता है"। (   )
8. काव्य का मुख्य उद्देश्य स्वहित है। (   )
9. मम्मट के अनुसार आनंद की अनुभूति ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। (   )
10. काव्य श्रोता को रसमग्न करके जीवनोपयोगी सद्शिक्षा देता है। (   )

2.4.2 हिन्दी विद्वानों के अनुसार काव्य–प्रयोजन

हिन्दी के कवियों और विद्वानों ने भी काव्य–प्रयोजन पर विचार किया है। गोस्वामी तुलसीदास ने 'स्वांत सुखाय' को काव्य का प्रयोजन मानते हुए कहा है –

'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा मतिमंजुलमातनोति।'

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने मनोरंजन व लोककल्याण की भावना से अनुप्राणित काव्य का समर्थन करते हुए कहा है –

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।

सुप्रसिद्ध समालोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य में लोकमंगल की भावना का समर्थन करते हुए कहा है कि "कविता का अंतिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण और उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य स्थापन है"। डॉ० नगेन्द्र, जयशंकर प्रसाद, नंददुलारे वाजपेयी प्रभृति विद्वानों ने भी आत्माभिव्यक्ति को काव्य का प्रयोजन बताया है।

2.4.3 पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार काव्य प्रयोजन

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य विद्वानों की काव्य–सम्बन्धी अवधारणा का प्रभाव आधुनिक भारतीय रचनाकारों पर भी पड़ा है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए पाश्चात्य विद्वानों के मत प्रस्तुत किए गये हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने

भी काव्य–प्रयोजनों पर अपने–अपने ढंग से विचार किया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्लेटो का नाम बहुत महत्त्वपूर्ण है। उनके मतानुसार काव्य का प्रयोजन आदर्श सृष्टि की रचना का अनुसंधान करना और काव्य को इतना मनमोहक और प्रभावशाली बना देना जिससे पाठक उसके अनुसार आचरण करने के लिए बाध्य हो सके। अरस्तु ने काव्य का प्रयोजन ज्ञानार्जन और आनंद माना है। अरस्तु की काव्यजन्य आनंद–साधन भारतीय रस सिद्धान्त के अत्यंत निकट है। जॉन ड्राइडेन के अनुसार – "कविता का एकमात्र नहीं तो कम से कम प्रधान उद्देश्य आनंद देना है क्योंकि कविता आनंद देकर ही शिक्षा दे सकती है। कवि का काम अनुकरण करना, आत्म को प्रभावित करना, भावना को जगाना आदि है"। लेहण्ट के अनुसार "कविता (काव्य) का उद्देश्य आनंद और आत्मकोत्कर्ष है" जी. एस. लीविस के अनुसार, "कविता का उद्देश्य नैतिक शिक्षा देना नहीं अपितु नैतिक उत्कर्ष प्रदान करना है"। टालस्टाय के मतानुसार काव्य का उद्देश्य, "मानव को मानव से मिलाना है। उनको एक ही भावना से संयुक्त करना है"।

यहां यह उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य को कला के अन्तर्गत माना है। काव्य–कला के प्रयोजनों को लेकर पाश्चात्य विद्वानों के चार वर्ग बन गये हैं, उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

1. **प्रथम वर्ग (यथार्थवादी वर्ग)**: इस वर्ग के विद्वान् काव्य का प्रयोजन जीवन और समाज का यथार्थ चित्रण मानते हैं। इस वर्ग के विद्वानों में प्लेटो, टालस्टाय, रस्किन आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।
2. **द्वितीय वर्ग (आनंदवादी वर्ग)**: इस वर्ग के विद्वान् आनंद को ही काव्य का उद्देश्य मानते हैं। जर्मन के शिलर इत्यादि इस वर्ग के समर्थक हैं।
3. **तृतीय वर्ग (नीतिवादी वर्ग)**: इस वर्ग के विद्वान् नीति और आनंद को काव्य का मुख्य प्रयोजन मानते हैं। मैथ्यू आर्नल्ड इत्यादि विद्वान् इस मत के समर्थक हैं।
4. **चतुर्थ वर्ग (कला कला के लिए)**: इस वर्ग के समर्थकों का मत है कि कला का उद्देश्य कला या काव्य की सृष्टि करना है। काव्य का मुख्य प्रयोजन काव्य को कला के दृष्टिकोण से प्रस्तुत करना है। इस वर्ग के विद्वान् प्रचारवादी और उपदेशात्मक काव्य को मध्यम कोटि का काव्य मानते हैं क्योंकि ऐसे काव्यों में कला का पूर्ण विकास नहीं हो पाता है। इस वर्ग के विद्वानों ने कला के नाम पर प्रचार करने तथा कुरुचिपूर्ण, अश्लील, दूषित अथवा वीभत्स साहित्य–सृजन करने वालों का विरोध किया है। इस वर्ग के समर्थकों में वाल्टर वेटर, ब्रेडले, आस्करवाइल्ड आदि विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं। 'कला कला के लिए' समर्थकों ने सौंदर्यजन्य आनंद की सृष्टि को काव्यकला का चरम मूल्य और प्रयोजन स्वीकार किया है। ब्रेडले के अनुसार, कल्पनात्मक अनुभव (सौंदर्यानुभव) ही कला का प्रयोजन है, यही आंतरिक तत्त्व है। धर्म, संस्कृति, शिक्षा, वासना–परिष्कार, संदेश आदि उसके बाह्य प्रयोजन हो सकते हैं। ब्रेडले के अनुसार काव्य, काव्य के लिए है और काव्य अपना साध्य स्वयं है।

2.4.4 स्व–मूल्यांकन

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में आपने हिन्दी और पाश्चात्य के कवियों और विद्वानों द्वारा किए गए काव्य–प्रयोजन संबंधी विचारों का अध्ययन किया है। निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा आप अपने अध्ययन का निरीक्षण कर सकते हैं।

1. 'स्वांत सुखाय' को काव्य का प्रयोजन किसने माना है?

   (क) रामविलास शर्मा (ख) गोस्वामी तुलसीदास (ग) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (घ) प्रसाद

2. "कविता का अंतिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण और उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य स्थापन है"। यह कथन किसका है?

   (क) डॉ० नगेन्द्र (ख) जयशंकर प्रसाद (ग) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (घ) नंददुलारे

3. काव्य का प्रयोजन ज्ञानार्जन और आनंद किसने माना है?

   (क) अरस्तु (ख) प्लेटो (ग) जॉन ड्राइडेन (घ) लेहण्ट

4. "कविता (काव्य) का उद्देश्य आनंद और आत्मकोत्कर्ष है" यह कथन किसका है?

   (क) अरस्तु (ख) प्लेटो (ग) जॉन ड्राइडेन (घ) लेहण्ट

5. काव्य–उद्देश्य के संदर्भ में यह कथन किसका है, "मानव को मानव से मिलाना है। उनको एक ही भावना से संयुक्त करना है"।

   (क) अरस्तु (ख) प्लेटो (ग) जॉन ड्राइडेन (घ) टालस्टाय

6. काव्य–कला के प्रयोजनों को लेकर पाश्चात्य विद्वानों के कितने वर्ग बन गये हैं ?

   (क) तीन (ख) चार (ग) दो (घ) सात

2.5. सारांश

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि काव्य हेतु काव्य रचना के कारण हैं और काव्य–प्रयोजन काव्य–रचना के मूल उद्देश्य हैं। वस्तुतः काव्य–हेतु और काव्य–प्रयोजन दोनों मिलकर काव्य–रचना में सहायक होते हैं और कवि को काव्य रचना हेतु प्रेरित भी करते हैं। काव्य–हेतु काव्य के वे तत्त्व हैं जो काव्य–सृजन के मूलाधार हैं। काव्य–प्रयोजन वे बिन्दु हैं जो काव्य–सृजन के लिए कवि को आलोक प्रदान करते हैं। काव्य प्रयोजन का सार यही है कि अर्थ–लाभ, यशप्राप्ति, रोग नाश आदि काव्य के गौण प्रयोजन हैं। काव्य का प्रमुख प्रयोजन तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि से सम्बन्धित शास्त्र–ज्ञान संवेदना संवलित रूप में सरस और संवेद्य बनाकर प्रस्तुत करना है। उचित–अनुचित का बोध करने वाले लोकमंगलकारी शास्त्र ज्ञान की रसात्मक, आनंदमयी अभिव्यक्ति करना ही काव्य का प्रमुख प्रयोजन है।

2.6 कठिन शब्द

1. क्रांतदर्शी – सब कुछ जानने वाला
2. कारयित्री– कर्तृ, करने वाली
3. निष्णात – अच्छा ज्ञान रखने वाला, निष्पन्न

2.7. अभ्यासार्थ प्रश्नः

1. **'काव्य–हेतु' से क्या तात्पर्य है ? प्रमुख काव्य–हेतुओं का विस्तृत परिचय दीजिए।**

2. "शक्ति (प्रतिभा), निपुणता और अभ्यास – इन तीनों का समन्वित रूप काव्य हेतु है" इस कथन के आलोक में काव्य–निर्मिति में इन तीनों हेतुओं की भूमिका का आकलन कीजिए।

3. 'काव्य–प्रयोजन' से क्या अभिप्राय है ? विभिन्न विद्वानों के मत प्रस्तुत करते हुए आचार्य मम्मट द्वारा निरूपित काव्य–प्रयोजनों की व्याख्या कीजिए।

4. काव्य हेतुओं का उल्लेख करते हुए प्रतिभा का विस्तार से विवेचन कीजिए।

5. काव्य–हेतु तथा काव्य प्रयोजन का अंतर स्पष्ट कीजिए।

2.8. उत्तर कुंजी

2.3.1.4 स्व–मूल्यांकन

1. 'काव्य हेतु' 2. 'काव्यादर्श' 3. काव्य–प्रक्रिया 4. तीन 5. वामन 6 'निर्मल शास्त्र ज्ञान' 7. 'निपुणता' 8. उत्पाद्या 9. सहजा 10. प्रतिभा 11. आनंदवर्द्धन 12. 'व्युत्पत्ति' 13. भारतीय 14. 'अभ्यास' 15. मंगल

2.4.1.7. स्व–मूल्यांकन

1. सही 2. गलत 3. सही 4. सही 5. गलत 6 गलत 7. सही 8. गलत 9. सही 10.सही

2.4.4 स्व–मूल्यांकन

1. गोस्वामी तुलसीदास 2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 3. अरस्तु 4. लेहण्ट 5. टालस्टाय 6. चार

2.9. पठनीय पुस्तकें

(1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा, हरियाणा ग्रंथ अकादमी पंचकूला, 2013

(2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2023

(3) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय, वाणी प्रकाशन, 2024

(4) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2019

'काव्य के रूप'

दृश्य, श्रव्य तथा इनके भेद

रूपरेखा

3.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
3.2. प्रस्तावना
3.3. दृश्य काव्य
3.3.1. रूपकः स्वरूप व भेद
3.3.2. नाटक
3.3.3. स्व–मूल्यांकन
3.4. श्रव्य काव्य
3.4.1. महाकाव्य
3.4.2. खंड काव्य
3.4.3. मुक्तक काव्य
3.4.4. स्व–मूल्यांकन
3.5. गीतिकाव्य
3.5.1 स्व–मूल्यांकन
3.6. सारांश
3.7. कठिन शब्द
3.8. अभ्यासार्थ प्रश्न
3.9. उत्तर कुंजी
3.10. पठनीय पुस्तकें

3.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थी ! इस अध्याय का उद्देश्य आपको काव्य के भेदों से परिचित करवाना है।

इस अध्याय का विस्तार से अध्ययन करने के उपरान्त आप काव्य–रूपों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

3.2 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थी ! छंदबद्ध रचनाओं को सामान्यतः काव्य कहा जाता है जिसमें भावानंद प्रदान करने की क्षमता होती है। पहले नाटक छंदबद्ध होते थे इसलिए नाटकादि को काव्य के व्यापक अर्थ में ग्रहण कर लिया गया। 'काव्य' शब्द का सामान्य अर्थ कवि की कृति है। 'काव्यतीति कविः तस्य कर्म काव्यम्' अर्थात् वाक्यों द्वारा कविकर्म को 'काव्य' कहा जाता है। भारतीय आचार्यों ने काव्य का कई आधारों पर विभाजन किया है। इन्द्रियगम्यता के आधार पर विद्वानों

ने काव्य के दो भेद किये हैं—दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य। दृश्य काव्य उसे कहते हैं जिसका अभिनय किया जा सके। दृश्य काव्य को भारतीय काव्यशास्त्र में 'रूपक' भी कहा गया है। रूपक के दस और उपरूपक के 18 (अठारह) भेद माने गये हैं। रूप का आरोप होने के कारण दृश्यकाव्य के इस भेद को 'रूपक' कहा गया है। रूपक को पाँचवां भेद कहा गया है क्योंकि इससे जनसाधारण भी आनंद ले सकते हैं। श्रव्य काव्य उसे कहते हैं जिसे सुना जा सके अर्थात् जिसे पढ़कर या सुनकर सहृदय आनंद प्राप्त कर सके। श्रव्य काव्य के गद्य—पद्य प्रयोग की दृष्टि से तीन भेद किये गये हैं। गद्य, पद्य और मिश्र (चम्पू)। पद्य काव्य के बंध की दृष्टि से दो भेद किये गये हैं— प्रबंध काव्य और मुक्तक काव्य। प्रबंध काव्य में पूर्वापर का तारतम्य रहता है। प्रबंधकाव्य के दो भेद किये जा सकते हैं — एक महाकाव्य और दूसरा खंडकाव्य। मुक्तक में तारतम्य का अभाव रहता है। मुक्तक पूर्वापर क्रम से मुक्त, स्वतःपूर्ण और स्वतंत्र होते हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र में रमणीयता के आधार पर तीन भेद किये गये हैं— उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम काव्य को ध्वनि काव्य भी कहा जाता है। इसमें व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है। जैसे—'रामचरित मानस' का अयोध्याकांड। मध्यम काव्य को 'गुणीभूत व्यंग्य' भी कहते हैं। इसे 'अलंकार ध्वनि' काव्य की संज्ञा भी दी जाती है। 'लक्षणा' शब्द शक्ति इस काव्य का मूलाधार है। इसके वाच्यार्थ में अधिक चमत्कार रहता है। इसमें संवेदना की अपेक्षा विचार मुख्य होता है। पंत की 'नौका विहार' शीर्षक कविता इसी तरह की है। अभिधेय अर्थ से युक्त काव्य को अधम काव्य कहा जाता है। इसमें शब्द—चमत्कार की प्रधानता होती है। इसमें इतिवृत्तात्मकता और परिगणनात्मकता की प्रधानता होती है। कुछेक विद्वानों ने इसे चित्रकाव्य भी कहा है। पद्माकर की प्रकृति सम्बंधी कविता इसी प्रकार की है।

'प्रभाव' के आधार पर काव्य के दो भेद माने गये हैं—भाव प्रधान व विचार प्रधान। भाव प्रधान काव्य में अनुभूति तत्त्व की प्रधानता होती है। जैसे नाटक, महाकाव्य, खंडकाव्य आदि। विचार प्रधान काव्य में विचार तत्त्व की प्रधानता होती है। कबीर, अज्ञेय आदि कवियों की कविता में विचारतत्त्व की प्रधानता है। कुछेक विद्वानों ने काव्य के आकारीय भेद भी किये हैं जैसे—वृहदाकारीय और लघु आकारीय। वृहदाकारीय रचनाओं में नाटक, महाकाव्य को सम्मिलित किया जा सकता है। ऐसी रचनाओं में विचारों, समस्याओं, जीवन के पक्षों—दृष्टिकोणों व प्रसंगों का बाहुल्य होता है। खण्डकाव्य, गीत, गजल आदि लघु आकारीय रचनाएँ मानी जाती हैं। ऐसी रचनाओं में जीवन के एक पक्ष, एक भाव, एकविचार, एक समस्या, एक स्थिति, एक घटना आदि की प्रस्तुति होती है।

काव्य के प्रमुख भेदों का एक रेखीय खाका भी द्रष्टव्य है—

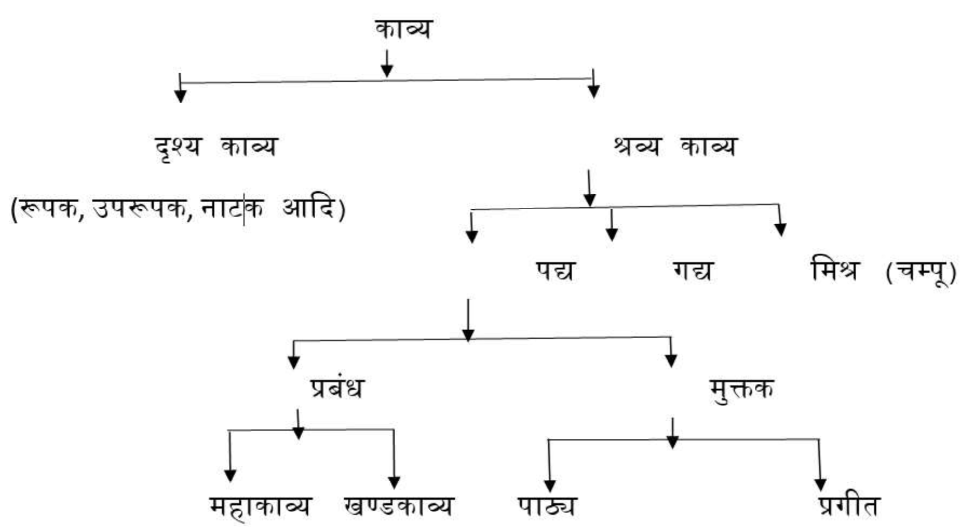

3.3. दृश्य काव्य

दृश्य काव्य वह है जिसका अभिनय किया जा सके। दृश्य काव्य को 'रूपक' भी कहते हैं।

3.3.1. रूपकः स्वरूप व भेद

रूपक का स्वरूपः एक वस्तु में किसी अन्य वस्तु के आरोप को रूपक कहते हैं। रूपक में अभिनेता, नट या पात्रों पर किसी व्यक्ति विशेष का आरोप किया जाता है। रूपक या नाटक में मनुष्य के रूप, चेष्टा और अंतः प्रकृति के साथ–साथ उसके मानसिक भावों का भी अनुकरण किया जाता है। अभिनेता के अभिनय–कौशल से रूपक में रामादि मूल पात्रों की प्रतीति होने लगती है। डॉ. भगीरथ मिश्र के अनुसार, ''रूपक, नाटक या दृश्यकाव्य में नाट्य अभिनय का प्रधान स्थान होता है। अतः दृश्यकाव्य के भीतर कथावस्तु, चरित्र तथा दृश्यों का इस प्रकार संगठन है कि उन्हें रंगमंच पर दिखाया जा सके।'' सुप्रसिद्ध समीक्षक डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार, ''रूपक में अनुकृति के साथ–साथ रूप के आरोप पर भी बल दिया जाता है। अतएव नाटक के लिए रूपक शब्द का प्रयोग नाट्य की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है।''

रूपक के भेदः 'नाट्यशास्त्र' में रूपक के दस भेद माने गये हैं–नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, व्यायोग, समवकार, डिम, वीथी, अंक, ईहा मृग। इन सब में नाटक को अधिक महत्त्व दिया गया है। रूपक के इन सभी उपभेदों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

3.3.2. नाटक

रूपक के भेदोंः में नाटक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और चर्चित रूप है। भारतीय आचार्यों ने 'काव्येषु नाटकं रम्यं' कहकर नाटक की महत्ता प्रतिपादित की है। नाटक की लोकप्रियता के अनेक कारण हैं। आचार्य भरत ने नाटक की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा है–

न तत ज्ञानं न तत शिल्पं सा विद्या न सा कला।
न सयोगी न तत् कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते।।

अर्थात् न ऐसा कोई ज्ञान है, न कला, न कोई शिल्प, न कोई विद्या; ऐसा कोई योग नहीं, कोई कर्म नहीं जिसे नाटक द्वारा प्रेरित न किया जा सके।

साहित्य की अन्य विधाओं में नाटक का क्षेत्र अत्यंत व्यापक और प्रभावशाली है। इस कारण नाटक को 'सामाजिक अनुभव' भी कहा जाता है; आचार्य भरत ने नाटक देखने वाले दर्शक के लिए सामाजिक शब्द का प्रयोग किया है। आचार्य विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य दर्पण' में नाटक की परिभाषा देते हुए कहा है–

''नाटक वह रचना है, जिसकी कथा इतिहासख्यात हो.... जिसमें पाँच से दस तक अंक हों, जिसका नायक उच्चकुलोत्पन्न, धीर और साहसी हो, जिसके शृंगार अथवा वीर अंगी रस के रूप में होंय और जिसमें नाट्य–संधियों का समावेश किया गया हो।'' भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने नाटक की परिभाषा इस प्रकार दी है– "काव्य का सर्वगुणसम्पन्न प्रदर्शन ही नाटक है। इसका नायक कोई महाराज, ईश्वरावतार या फिर ईश्वर स्वयं होना चाहिए। शृंगार या वीर में से एक रस प्रधान हो। आख्यान मनोहर तथा श्रेष्ठ होना चाहिए।" डॉ. सोमनाथ गुप्त के अनुसार, "नाटक, कथावस्तु के द्वारा व्यक्तिगत अथवा सामूहिक जीवन की अभिनयपूर्ण व्याख्या है।"

आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में नाटक के पांच तत्त्व माने हैं–कथा, अभिनय या पात्र संवाद, रस तथा रचना–कौशल। आकार की दृष्टि से नाटक की कथावस्तु दो प्रकार की मानी गई है–अधिकारिक कथा और प्रासंगिक कथा। अधिकारिक कथा नाटक के प्रारंभ से अंत तक चलती है। इसके तीन कार्य होते हैं – बीज, बिन्दु और कार्य। अधिकारिक कथा के साथ–साथ चलने वाली कथा को प्रासंगिक कथा कहा जाता है। प्रासंगिक कथा के आचार्यों ने दो भेद माने हैं–पताका और प्रकरी। भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व नेता है। नेता को नायक भी कहते हैं। नायक का सम्बंध अधिकारिक (मुख्य) कथा से होता है तथा उसी को अंत में फल की प्राप्ति होती है; धनंजय ने अपने 'दशरूपक' नामक ग्रंथ में नायक के अनेक गुणों की ओर संकेत किया है। नायक विनयशील, मधुर, कार्य करने में दक्ष, त्यागी, लोकप्रिय, कुशल वक्ता, उच्च कुलोत्पन्न, स्थिरमति, बुद्धिमान, साहसी, प्रज्ञासम्पन्न, स्वाभिमानी, कलाप्रिय, कलाकार, शूरवीर तेजस्वी तथा शास्त्रों को जानने वाला होना चाहिए। संस्कृत नाट्यशास्त्र में नाटक के चार भेद बताये गये हैं–धीरोदात्त, धीरललित, धीर प्रशांत तथा धीरोद्धत। नाटक में नायक के अतिरिक्त अन्य पुरुष पात्र भी होते हैं जैसे–प्रतिनायक, पीठमर्द व विदूषक; प्रतिनायक को खलनायक भी कहा जाता है। पीठमर्द नायक का प्रमुख सहायक पात्र होता है। विदूषक की योजना हास्यसृष्टि के लिए की जाती है। संवाद तो नाटक के प्राण होते हैं। नाटक की कथा को आगे बढ़ाने, पात्रों के चरित्रांकन आदि के लिए संवादयोजना की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। भारतीय काव्यशास्त्र में नाटक का प्रमुख तत्त्व रस है। रस अथवा आनंदानुभूति के लिए नाटक का सृजन व मंचन होता है; रचना कौशल भी रंगमंच का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। अभिनय–कौशल, रंगमंचीयता, कलात्मकता, मूल्यचेतना, शिल्पविधि, सामाजिक चेतना आदि को ध्यान में रखते हुए नाटक के रचनात्मक कौशल को संवारा जाता है।

नाटक की अनेक विशेषताएँ हैं –

(1) **अभिनेयता** – नाटक, वस्तुतः मानव जीवन का अनुकरण है। (2) नाटक में अंकों की संख्या 5 से 10 तक होती है। दस से अधिक अंकों वाले नाटक को महानाटक कहते हैं। (3) नाटक में व्यक्तिगत जीवन के साथ–साथ सामूहिक जीवन की अभिव्यक्ति भी होती है। (4) नाटक में पांच अर्थ प्रकृतियों, कार्य अवस्थाओं, संधियों का विशेष ध्यान रखा जाता है। (5) चूंकि नाटक श्रव्यविधा है अत इसमें संवाद योजना को सुष्ठु बनाने के लिए संवाद योजना के चार प्रकार माने हैं– श्रव्य, नियत श्रव्य, अश्रव्य, आकाशभाषित। (6) सूच्यकथा को आगे बढ़ाने के लिए विष्कंभक, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार, प्रवेशक आदि का विधान किया जाता है।

(2) **प्रकरण** – प्रकरण में कथावस्तु उत्पाद्य व कवि कल्पित होती है। इसका नायक धीर और शांत होता है जैसे सचिव, पुरोहित, मंत्री आदि। इसमें पांच से दस अंक होते हैं।

(3) **भाण** – यह एकांकीनुमा होता है। इसमें एक पात्र होता है। इसमें पात्र दूसरों के वचनों को स्वयं कहता है। वह अनेक प्रकार से विविध चेष्टा युक्त अभिनय करता है। जैसे–भारतेन्दु का 'विषस्य विषमौषध' नाटक।

(4) **प्रहसन** – यह हास्यप्रधान युक्त एकांकी होता है। इसके तीन भेद हैं–शुद्ध, संकर और विकृत। शुद्ध प्रहसन में सन्यासी, तपस्वी और पुरोहित नामक के रूप में आते हैं। विकृत में नपुंसक, कंचुकी, कामुक, धूर्त व्यक्ति नायक के रूप में आते हैं। इसमें परिहासपूर्ण संवाद होते हैं। जैसे भारतेन्दु का 'अंधेर नगरी' नाटक।

(5) **व्यायोग** – इसमें कथावस्तु और नायक प्रसिद्ध होते हैं। नायक धीरोदात्त, राजर्षि तथा दिव्य पुरुष होता हैय पुरुष पात्र अधिक और स्त्री पात्र कम होते हैं। जैसे–भास का 'मध्यमव्यायोग'।

(6) **समवकार** – इसका कथानक देवताओं और असुरों से सम्बद्ध होता है। इसका नायक दिव्यगुणों से विभूषित होता है। इसमें वीर रस की प्रधानता होती है। इसमें सभी वृत्तियों का प्रयोग होता है। इसमें तीन अंक होते हैं। इसका उदाहरण समुद्र मंथन शीर्षक नाटक है।

(7) **डिम** – कोई प्रसिद्ध कथा कथानक का आधार होती है। इसमें चार अंक होते हैं। इसमें प्रधानरस रौद्र रस होता है। शांत, हास्य, शृंगार को छोड़कर अन्य रस गौण रूप में आते हैं। इसमें सूर्यग्रहण, उल्कापात इत्यादि के उदाहरण होते हैं। त्रिपुरदाह इसका प्रमुख उदाहरण है।

(8) **वीथी** – इसकी कथावस्तु कल्पित होती है। यह एक प्रकार से एकांकी ही होता है। इसका नायक मध्यम कोटि का होता है। इसमें पात्र एक दो ही होते हैं। इसमें शृंगार रस की प्रधानता होती है। 'लीला मधुकर' वीथी का एक सुंदर उदाहरण है।

(9) **अंक** – इसमें किसी प्रख्यात विषय वस्तु का प्राधान्य होता है। इसमें करुण रस की प्रधानता होती है। 'शर्मिष्ठा ययाति' इसका सुंदर उदाहरण है।

(10) **ईहामृग** – इसका नायक धीरोद्धत होता है। वह अलभ्य नायिका को प्राप्त करने की इच्छा करता है। प्रतिनायक भी उस नायिका पर अनुरक्त होता है। इसमें चार अंक होते हैं तथा मुख प्रतिमुख तथा निर्वहण संधियों का विधान होता है।

रूपक के उपर्युक्त दस भेदों का परिचय नाट्यशास्त्र , दशरूपक, साहित्य दर्पण आदि के आधार पर दिया गया है। रूपक के उक्त भेदों में 'नाटक' को सर्वोत्कृष्ट एवं महत्वपूर्ण माना गया है।

3.3.3 स्व–मूल्यांकन

प्रिय विद्यार्थियों ! आगे बढ़ने से पहले अपने अध्ययन को थोड़ा विश्राम दें और इस अध्याय में अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यदि आप रिक्त स्थान भरने में असमर्थ हैं तो आपको निराश होने की अवश्यकता नहीं। आप अभी तक के अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

1. एक वस्तु में किसी अन्य वस्तु के आरोप को...................................कहते हैं।
2. रूपक या नाटक में मनुष्य के रूप, चेष्टा और अंतः प्रकृति के साथ–साथ उसके ....का भी अनुकरण किया जाता है।
3. 'नाट्यशास्त्र' में रूपक के ....भेद माने गये हैं।
4. आचार्य..........................ने अपने 'साहित्य दर्पण' में नाटक की परिभाषा देते हुए कहा है।
5. आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में नाटक के ....तत्त्व माने हैं।
6. ....एकांकीनुमा होता है। इसमें पात्र दूसरों के वचनों को स्वयं कहता है।
7. ....हास्यप्रधान युक्त एकांकी होता है। इसके तीन भेद हैं–शुद्ध, संकर और विकृत।
8. वीथी की कथावस्तु ....होती है।
9. ....का कथानक देवताओं और असुरों से सम्बद्ध होता है।

3.4. श्रव्य काव्य

श्रव्य काव्य से तात्पर्य है–जिसे पढ़ा व सुना जा सके। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार ''श्रव्यंश्रोतव्यमात्रं तत्पद्य गद्यमयं द्विधा।'' अर्थात् जो केवल सुने जा सके, जिसका अभिनय न हो सके वे गद्य और पद्य दो प्रकार के श्रव्य काव्य

होते हैं। हमारा विशिष्ट प्रयोजन प्रबंध और मुक्तक काव्य रूपों और उनके उपरूपों पर प्रकाश डालना है। प्रबंध काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य और खण्ड काव्य आते हैं। इनका परिचय इस प्रकार है–

3.4.1. महाकाव्य

महाकाव्य प्रबंधकाव्य की सर्वश्रेष्ठ विधा है। इसमें किसी जाति या समाज की सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक परम्पराओं की सफल प्रस्तुति होती है। एक समालोचक के अनुसार, ''महाकाव्य अपने युग का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता अपितु वह अतीत का गायक, वर्तमान का चित्रकार और भविष्य का दृष्टा होता है।'' संस्कृत काव्यशास्त्र में महाकाव्य की विस्तृत मीमांसा की गई है। इन आचार्यों में भामह, दण्डी, रुद्रट, आचार्य विश्वनाथ प्रमुख हैं। आचार्य विश्वनाथ ने काव्य की परिभाषा देते हुए कहा है।

सर्गबन्धो महाकाव्यं त्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशरू क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः।
एक वंश भवा भूपः कुलजा बहवोऽपि वा।।
शृंगार वीर शांतानामेकोऽड़गी रस इष्यते।
अंगामि सर्वेऽपि रस्मः सर्वे नाटक संघयः।।
इतिहासोद्‌भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारः तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फल भवेत्
X X X X X
कवेवृतस्य वा नाम्ना नायक स्येतरस्य वा।

साहित्यदर्पण, 6.315–318)

अर्थात् महाकाव्य सर्गबद्ध होता है। उसमें धीरोदात्त नायक होता है। शृंगार, वीर, शांत रसों में से एक अंगी रस के रूप में होता है। इसमें नाटक की अनेक संधियाँ होती हैं। उसमें लोकप्रसिद्ध कथा होती है। चतुर्वर्ग में से उसका एक फल भी होता है। एक सर्ग में एक छंद होता है किन्तु अंतिम छंद भिन्न प्रकृति का होता है। उसका नाम कवि अथवा चरित नायक के नाम से होना चाहिए।

हिन्दी के प्रसिद्ध समीक्षक डॉ. गुलाबराय के अनुसार, 'महाकाव्य वह विषय प्रधान काव्य है जिसमें किसी अपेक्षाकृत बड़े आकार में प्रतिष्ठित और लोकप्रिय नायक के उदात्त कार्यों द्वारा जातीय भावनाओं, आदर्शों और आकांक्षाओं का उदघाटन किया जाता है।'' ''रामचरितमानस (तुलसी), 'कामायनी' (प्रसाद), 'साकेत' (मैथिलीशरण गुप्त) आदि हिन्दी के विशिष्ट महाकाव्य हैं।

महाकाव्य के लक्षण

1. **कथावस्तु** – महाकाव्य की कथावस्तु पूर्ण जीवनगाथा होती है। कथा आठ से अधिक सर्गों में संगठित होती है। कथा का प्रारंभ आशीर्वचन और मंगलाचरण से होता है। सर्ग के अंत में आगामी सर्ग की सूचना का संकेत मिल जाता है। महाकाव्य में सब संधियाँ होती हैं ताकि कथा व्यवस्थित रहे।
2. **नायक** – महाकाव्य का नायक देवोपम व्यक्ति, राजा अथवा महापुरुष होता है। नायक में धीरोदात्त गुणों का होना अत्यंत आवश्यक है।

3. **रस** – महाकाव्य में सभी रसों का होना आवश्यक है। श्रृंगार, वीर, शांत में से किसी एक रस की प्रमुखता अनिवार्य है।

4. **नामकरण** – महाकाव्य का नामकरण नायक या कथावस्तु के आधार पर होता है।

5. **वर्णन** – महाकाव्य में जीवन के सभी दृश्यों, प्रकृति के सभी रूपों तथा विविध भावों का वर्णन महाकाव्य में आवश्यक होता है। सज्जनों की प्रशंसा व दुर्जनों की निंदा का भी इसमें विधान होना चाहिए। सूर्य, चन्द्रमा, दिन, रात, अंधकार, वन, पर्वत, समुद्र आदि का महाकाव्य में वर्णन होना चाहिए।

6. **उद्देश्य** – महाकाव्य का उद्देश्य आनंद और मनोरंजन के साथ व्यापक प्रभाव को रेखांकित करना है। इन उद्धेश्यों की सिद्धि के लिए नायक में संघर्ष , साधना, चरित्र–विकास तथा अन्य गुणों का होना आवश्यक है। महाकाव्य में, उद्देश्य के अनुसार, विषय –विस्तार, वर्णन वैविध्य, प्रकृति चित्रण तथा युगबोध की अभिव्यक्ति आवश्यक है।

महाकाव्य के भेद – प्रवृत्तियों के आधार पर महाकाव्य के चार भेद किये जा सकते हैं –

1. कथा प्रधान – जैसे – महाभारत, पृथ्वीराज रासो आदि।
2. चरित्र प्रधान – जैसे – रामायण, रघुवंश, साकेत आदि।
3. भाव प्रधान – जैसे – कामायनी।
4. अलंकृति प्रधान – जैसे – शिशुपाल वध, रामचन्द्रिका आदि।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि विषय की प्रधानता, आकार की गुरुता, लोकप्रिय नायक की प्रतिष्ठा, जातीय भावनाओं, आदर्शों तथा आकांक्षाओं का उद्‌घाटन आदि से सम्पृक्त रचना महाकाव्य कहलाने योग्य है।

3.4.2. खण्डकाव्यः

खण्डकाव्य प्रबंध काव्य का ही एक विशिष्ट भेद है। आचार्य रुद्रट ने इसे लघुकाव्य कहा है। साहित्य दर्पण के रचयिता आचार्य विश्वनाथ ने खण्डकाव्य की परिभाषा देते हुए कहा है –

"खण्डकाव्य भवेत् काव्यस्यैक देशा नुसारि च"।

अर्थात् काव्य या देश के एक खण्ड या अंश का अनुसरण करने वाली रचना खण्डकाव्य है। वस्तुतः खण्ड काव्य में एक घटना, एक भाव और एक ही कार्य की योजना होती है। महाकाव्य में जीवन की अनेकरूपता होती है जबकि खण्डकाव्य में जीवन का कोई विशिष्ट पक्ष ही वर्णित किया जाता है।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध समीक्षक आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने खण्डकाव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है – "महाकाव्य के ही ढंग पर जिस काव्य की रचना होती है, जिसमें पूर्ण जीवन न ग्रहण करके खण्ड जीवन ही ग्रहण किया जाता है, उसे 'खण्डकाव्य' कहते हैं"। डॉ० शम्भुनाथ सिंह के अनुसार "सीमित दृष्टि पथ से जीवन का जितना दृश्य दिखाई पड़ता है, उसी का चित्रण खण्डकाव्य में होता है"।

हिन्दी के खण्डकाव्यों में 'सुदामा चरित' (नरोतम स्वामी) 'जयद्रथ वध', 'पंचवटी' (मैथिलीशरण गुप्त), 'तुलसीदास' (सूर्यकांत त्रिपाठी निराला) 'कामिनी' (नरेन्द्र शर्मा), 'संशय की एक रात' 'महाप्रस्थान' (नरेश मेहता) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

खण्डकाव्य की विशेषताएँ

1. खण्डकाव्य प्रबंधकाव्य का लघुकाय रूप है जिसमें तात्विक दृष्टि से महाकाव्य के सभी लक्षण आ जाते हैं।
2. खण्डकाव्य में कथाविस्तार नहीं होता और न ही इसमें प्रासंगिक कथाओं का बाहुल्य होता है।
3. खण्डकाव्य में पात्रों की संख्या सीमित होती है। उनके चरित्र की सभी रेखाएँ संक्षेप में प्रस्तुत की जाती हैं।
4. खण्डकाव्य में किसी एक रस पर परिपाक न दिखाकर, किसी उदात्त भाव का उत्कर्ष दिखाकर पाठक को मुग्ध किया जाता है।
5. खण्डकाव्य में भावानुकूल छंद–योजना को विशेष महत्त्व दिया जाता है।
6. खण्डकाव्य का मुख्य उद्देश्य काल सापेक्ष या युगबोध का परिचय देते हुए पाठक में एक विशेष भावानुभूति का संचार करना है।

3.2.3. मुक्तक काव्य

मुक्तक काव्य प्रबंध का विशेष भेद है। इस शब्द की व्युत्पत्ति 'मुक्त' में 'कन' प्रत्यय लगाकर की जाती है। यह रचना स्वतंत्र, निर्बंध तथा पूर्वापर सम्बन्ध से रहित होती है। 'अग्निपुराण' के अनुसार –

"मुक्तकं श्लोकः एकैकश्चमत्कार क्षमः सताम्।"

अर्थात् सहृदयों को चमत्कृत करने में समर्थ को 'मुक्तक' कहते हैं। आचार्य दण्डी के अनुसार खण्डकाव्य की परिभाषा इस प्रकार है –

"मुक्तकं वाक्यान्तर निरपेक्षयो सः श्लोकः"।

अर्थात् मुक्तक वह श्लोक है जो वाक्यान्तर निरपेक्ष हो।

आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार –

"पूर्वापर निरपेक्षेणापि हि येन रस चर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्"

अर्थात् आगे या पीछे के दूसरों पदों के साथ सम्बन्ध न होने पर भी जिससे रस व्यंजित हो, उसे मुक्तक कहते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मुक्तक की परिभाषा देते हुए कहा है – "मुक्तक में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं रहती, जिसमें कथा–प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिसमें हृदय–कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबंध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता"।

मुक्तक की विशेषताएँ

1. मुक्तक एक लघु आकारीय रचना होती है जिसमें खण्ड दृश्य की अवतारणा की जाती है।
2. मुक्तक का अस्तित्व स्वतंत्र व अनिबद्ध होता है।
3. मुक्तक में रसोन्मेष की विशेष क्षमता होती है।

4. मुक्तक में कल्पना की अनूठी समाहार शक्ति होती है।

5. मुक्तक में भाषा की समासिकता होती है।

6. मुक्तक में माधुर्य गुण और संगीतमयता होती है।

मुक्तक के भेद

रचना की श्लोक संख्या, वर्ण्य विषय के अनुसार मुक्तक के अनेक भेद किये गये हैं जैसे –

1. **युग्मक** – दो श्लोकों में किसी एक भाव अथवा अर्थ को व्यक्त करने वाली रचना।
2. **विशेषक** – तीन श्लोकों वाली स्वतःपूर्ण रचना।
3. **कुलापक** – चार श्लोकों वाली स्वतःपूर्ण रचना।
4. **कुलक** – पांच श्लोकों वाली स्वतःपूर्ण रचना।
5. **कोण** – किसी कवि विशेष अथवा कई कवियों की मुक्तक रचनाओं का समुच्चय। जैसे – बिहारी सतसई।
6. **प्रघट्टक** – एक कवि का मुक्तक संग्रह।
7. **विकर्णक** – कोण का समानार्थी।
8. **संघात** – एक कवि द्वारा कई विषयों पर लिखे गये मुक्तकों का समूह।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध समालोचक गुलाबराय ने मुक्तकों के दो भेद किए हैं – पाठ्य मुक्तक और गेय मुक्तक। संस्कृत हिन्दी तथा अंग्रेजी के आचार्यों ने गेय मुक्तक (गीतिकाव्य) पर अधिक विचार किया है।

3.4.4 स्व–मूल्यांकन

प्रिय विद्यार्थियों ! आगे बढ़ने से पहले अपने अध्ययन को थोड़ा विश्राम दें और निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा अपने अध्ययन का निरीक्षण करें। यदि आप इस मूल्यांकन में असफल होते हैं तो आपको निराश होने की अवश्यकता नहीं। आप अभी तक के अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

1. **''श्रव्यंश्रोतव्यमात्रं तत्पद्य गद्यमयं द्विधा।'' यह कथन किसका है?**

   (क) भामह (ख) दण्डी (ग) रुद्रट (घ) आचार्य विश्वनाथ

2. **महाकाव्य की कथावस्तु कितने सर्गों में संगठित होती है?**

   (क) आठ से अधिक (ख) चार से अधिक (ग) दस से अधिक (घ) छह से अधिक

3. **प्रवृत्तियों के आधार पर महाकाव्य के कितने भेद किये जा सकते हैं ?**

   (क) आठ (ख) चार (ग) तीन (घ) छह

4. **प्रवृत्तियों के आधार पर पृथ्वीराज रासो कैसा महाकाव्य है?**

   (क) चरित्र प्रधान (ख) भाव प्रधान (ग) कथा प्रधान (घ) अलंकृति प्रधान

5. **प्रवृत्तियों के आधार पर कामायनी किस प्रकार का महाकाव्य है ?**

(क) चरित्र प्रधान (ख) भाव प्रधान (ग) कथा प्रधान (घ) अलंकृति प्रधान

6. **प्रवृत्तियों के आधार पर रामचन्द्रिका किस प्रकार का महाकाव्य है ?**

(क) अलंकृति प्रधान (ख) भाव प्रधान (ग) कथा प्रधान (घ) चरित्र प्रधान

7. **प्रवृत्तियों के आधार पर साकेत किस प्रकार का महाकाव्य है ?**

(क) अलंकृति प्रधान (ख) चरित्र प्रधान (ग) कथा प्रधान (घ) भाव प्रधान

8. **काव्य या देश के एक खण्ड या अंश का अनुसरण करने वाली रचना क्या कहलाती है।**

(क) खण्डकाव्य (ख) महाकाव्य (ग) चम्पू काव्य (घ) गीति काव्य

9. **'संशय की एक रात' किस प्रकार का काव्य है ?**

(क) खण्डकाव्य (ख) महाकाव्य (ग) चम्पू काव्य (घ) गीति काव्य

10. **निम्न में से खण्डकाव्य कौन–सा है?**

(क) महाभारत (ख) रघुवंश (ग) सुदामा चरित (घ) शिशुपाल वध

3.5. गीतिकाव्य

गीतिकाव्य का मूलाधार भाव है, जो किसी प्रेरणा के भार से दबकर गीति के रूप में फूट निकलता है। 'हिन्दी साहित्यकोश भाग–1' के अनुसार, "गीतिकाव्य हृदय के उस गंभीर भावावेश का परिणाम है, जो सहज उद्रेक और प्राकृतिक वेग के साथ निःसृत होता है"। हिन्दी की सुप्रसिद्ध कवयित्री महादेवी वर्मा के अनुसार, "सुख दुःख की भावावेशमयी अवस्था, विशेष कर गिने–चुने शब्दों में स्वर–साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीति है"। सुप्रसिद्ध समालोचक डॉ० नगेन्द्र के अनुसार, "जब कभी आत्मा भाव की अग्नि में पिघलकर बहने को हुई है, उसके ताप से वाणी द्रवीभूत हो गई है और भाव ने गीत का रूप धारण कर लिया है"।

गेय मुक्तक (गीतिकाव्य) के भेद

विद्वानों ने गेय मुक्तक के छः भेद किये हैं।

1. **साहित्यिक गीत** – काव्य–लालित्य से मुक्त विभिन्न विषयों पर लिखे गये कलात्मक गीत जैसे–महादेवी के गीत।
2. **लोकगीत** – आजकल अनेक गीतकारों द्वारा लोकगीत लिखे जाते हैं।
3. **लोकशैली में लिखित गीत** – लोक शैली में लिखे गये गीत। बच्चन और नरेन्द्र शर्मा के असंख्य गीत इसी कोटि में आते हैं।
4. **नवगीत की विभिन्न शैलियां** – कुछेक गीतकारों ने 'नवगीत' नामक विधा का विकास किया है जिसमें विशिष्ट शिल्पविधि का प्रयोग किया गया है।
5. **तुक्तक क्षणिकाएं** – मुक्तक की तर्ज पर तुक्तक जिसमें तुक मिलाकर कोई छंद प्रस्तुत किया जाता है।

6. **रुबाइयां तथा गजलें** – उर्दू शैली में लिखित रुबाइयों और गजलों का भी प्रचुर मात्रा में प्रचलन हैं। धर्मवीर भारती ने भी कुछ रुबाइंया लिखी हैं।

गीतिकाव्य की विशेषताएं

1. **रचनानुभूति** – गीतिकाव्य में कवि की निजी अनुभूतियां घनीभूत रूप में प्रकट होती है। जब कवि किसी भाव या वस्तु का वर्णन करता है तो वह वर्णन कल्पना पर आश्रित न रहकर कवि की अपनी अनुभूति द्वारा आत्मसात किया हुआ वर्णन होता है। गीतिकाव्य में कवि की आंतरिक भावनाएँ प्रतिबिम्बित होती दिखाई देती हैं।
2. **भावात्मकता** – वर्डस्वर्थ ने कविता को मानव–मन की भावनाओं का सहज उच्छलन कहा है। गीतिकाव्य तीव्र भावावेश का परिणाम है जो सहज उद्रेक के साथ प्रस्फुटित होता है।
3. **रागात्मक अन्विति** – रागात्मक अन्विति भी गीतिकाव्य की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। गीतिकाव्य में आंतरिक लय सहज रूप से प्रवाहित होती दिखाई देती है।
4. **संगीतात्मकता** – आंतरिक संगीत, स्वर–व्यंजन मैत्री, भावानुकूल पदावली, सुचारु शब्द विन्यास के द्वारा कवियों ने संगीतात्मकता की सृष्टि की है।
5. **संक्षिप्तता** – संक्षिप्तता गीतिकाव्य का विशेष गुण है। गीतिकाव्य की भावना क्षणिक, आवेगमय और तात्कालिक होती है।
7. **कलात्मक शैली** – कोमल भावनाओं के अनुरूप कोमल–कांत पदावली, कलात्मक भाषा–शैली, बिम्ब, प्रतीक, अलंकार

आदि से संकलित गीतिकाव्य एक रम्य रचना होती है।

3.5.1 स्व–मूल्यांकन

प्रिय विद्यार्थियों ! निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर (✓ / X) सही या गलत चिह्न द्वारा देकर आप अभी तक प्राप्त ज्ञान का स्व–मूल्यांकन करें।

1. गीतिकाव्य का मूलाधार विचार है। (   )
2. डॉ० नगेन्द्र के अनुसार, "सुख दुःख की भावावेशमयी अवस्था, विशेष कर गिने–चुने शब्दों में स्वर–साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीति है।'' (   )
3. विद्वानों ने गेय मुक्तक के छः भेद किये हैं। (   )
4. कुछेक गीतकारों ने 'नवगीत' नामक विधा का विकास किया है जिसमें विशिष्ट शिल्पविधि का प्रयोग किया गया है। (   )
5. धर्मवीर भारती ने भी कुछ रुबाइंया लिखी हैं। (   )
6. गीतिकाव्य में कवि की निजी अनुभूतियां घनीभूत रूप में प्रकट नहीं होती है। (   )
7. गीतिकाव्य तीव्र भावावेश का परिणाम है जो सहज उद्रेक के साथ प्रस्फुटित होता है। (   )
8. गीतिकाव्य की भावना क्षणिक, आवेगमय और तात्कालिक नहीं होती है। (   )

3.6. सारांश

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि काव्य का विषय गंभीर और व्यापक है। कथ्य, शैली, प्रस्तुति, आकार आदि की दृष्टि से काव्य के अनेक भेद हो सकते हैं। काव्यशास्त्र के विद्वानों ने काव्य के दो प्रमुख भेद किये हैं – दृश्य काव्य और श्रव्यकाव्य। दृश्यकाव्य के अन्तर्गत 'रूपक' काव्य आता है। 'रूपक' के विशिष्ट रूप 'नाटक' की चर्चा संस्कृत काव्यशास्त्र से लेकर आज तक हुई है। श्रव्य काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक काव्य, गीतिकाव्य की विशेष चर्चा की गई हैं सीमित कलेवर के कारण काव्य के प्रमुख भेदों को ही इस पाठ में समेटने का प्रयास किया गया है।

3.7 कठिन शब्द

1. आनंदानुभूति– आंनद को अनुभव करना।
2. अभिनय– आंगिक चेष्टा ओं का कलात्मक प्रदर्शन।
3. व्यायोग– वीर रस प्रधान एक ही अंक का एक प्रकार का रूपक।
4. मनोहर– मन हरने वाला।
5. धीरोदात्त– भावनाओं पर पूर्ण नियंत्रण रखने वाला नायक।
6. देवोपम– देवता के समान।

3.8. अभ्यासार्थ प्रश्नः

1. **काव्य के वर्गीकरण के आधारों पर प्रकाश डालते हुए दृश्य काव्य के अन्तर्गत निरूपित विधा नाटक पर विस्तृत प्रकाश डालिए।**

2. **श्रव्यकाव्य के विशिष्ट भेदों पर प्रकाश डालिए।**

3. महाकाव्य की परिभाषा देते हुए इसके लक्षणों का आकलन कीजिए।

4. मुक्तक काव्य की परिभाषा देते हुए इसकी विशेषताओं का आकलन कीजिए।

5. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए – खण्ड काव्य, गीतिकाव्य, रूपक।

6. महाकाव्य व खंडकाव्य में क्या भेद है ? खंड काव्य की विशेषताएँ बताइए।

7. दृश्यकाव्य के उपभेदों पर प्रकाश डालिए।

3.9. उत्तर कुंजी

3.3.3 स्व–मूल्यांकन

1. रूपक 2. मानसिक भावों 3. दस 4. विश्वनाथ 5. पांच 6. भाण 7. प्रहसन 8. कल्पित 9. समवकार

3.4.4 स्व–मूल्यांकन

1. आचार्य विश्वनाथ 2. आठ से अधिक 3. चार 4. कथा प्रधान 5. भाव प्रधान 6. अलंकृति प्रधान 7. चरित्र प्रधान 8. खण्डकाव्य 9. खण्डकाव्य 10. सुदामा चरित

3.5.1 स्व–मूल्यांकन

1. गलत 2. गलत 3. सही 4. सही 5. सही 6. नहीं 7. सही 8. गलत

3.10. पठनीय पुस्तकें:

(1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा, हरियाणा ग्रंथ अकादमी पंचकूला, 2013

(2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2023

(3) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय, वाणी प्रकाशन, 2024

(4) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2019

शब्दशक्ति और उसके भेद

रूपरेखा

4.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
4.2 प्रस्तावना
4.3. अभिधा
4.3.1. रूढ़ि
4.3.2. यौगिक
4.3.3. योग रूढ़ि
4.3.4. अनेकार्थक शब्द
4.3.5. अभिधा शब्द शक्ति का महत्त्व
4.3.6. स्व–मूल्यांकन
4.4. लक्षणा
4.4.1. लक्षणा के भेद
4.4.2. लक्षणा शब्द शक्ति का महत्त्व
4.4.3. स्व–मूल्यांकन
4.5. व्यंजना
4.5.1. व्यंजना के भेद
4.5.2. व्यंजना का महत्त्व
4.5.2. स्व–मूल्यांकन
4.6 सहृदय की अवधारणा
4.7 सारांश
4.8 कठिन शब्द
4.9. अभ्यासार्थ प्रश्न
4.10. उत्तर कुंजी
4.11. पठनीय पुस्तकें

4.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थी ! इस अध्याय का उद्देश्य आपको शब्द–शक्ति और उसके भेदों से परिचित करवाना है।

इस अध्याय का विस्तार से अध्ययन करने के उपरान्त आप यह समझने में सक्षम होंगे कि भाषा में शक्ति के आधार पर ही कोई शब्द अपना अर्थ प्रकट करता है साथ ही यह ज्ञान आपको वाक्य निर्माण में भी सहयोग देगा।

4.2 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थी ! शब्दों से वाक्य बनते हैं और वाक्यों से भाषा बनती है। शब्द और अर्थ की अर्थवत्ता में ही इनकी महत्ता मानी जाती है। जिस क्रिया के द्वारा अर्थ का बोध होता है उसे 'शक्ति' कहते हैं। शक्ति के आधार पर ही कोई शब्द अपना अर्थ प्रकट करता है। डॉ० भगीरथ मिश्र ने शब्द की शक्ति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है – "शब्द की शक्ति असीम है। 'शब्द' उच्चारण के साथ ही हमारे मत, कल्पना और अनुभूति पर प्रकाश डालता है। आचार या चटनी का नाम लेते ही मुंह में पानी भर आता है। 'भूत' या 'सांप' शब्द का उच्चारण करते ही मन में भय का संचार होता है। यह अर्थगत प्रभाव है। अतः जिस शक्ति के द्वारा शब्द का यह अर्थगत प्रभाव पड़ता है वही 'शब्द शक्ति' कहलाती है। 'शब्द शक्ति' शब्द का अर्थगत व्यापार है।''

काव्य शास्त्रियों के अनुसार 'शब्द' साधन है और 'अर्थ' साध्य है। उन्होंने अर्थ को ही काव्य का सर्वस्व माना है। शब्द को अर्थ का वाहक माना गया है क्योंकि अर्थ शब्द के ही माध्यम से व्यक्त होता है। शब्द शक्तियाँ, रीति, गुण, रस, अलंकार इसी अर्थ पर निर्भर करती हैं। वाक्य में शब्द का प्रयोग प्रसंग के अनुसार किया जाता है और उसका अर्थ भी प्रसंग के अनुसार ग्रहण किया जाता है। उदाहरणार्थ 'गधा' शब्द पशु विशेष का द्योतक है। 'वह गधा है' वाक्य में 'गधा' शब्द पशु वाचक न होकर मूर्खता का द्योतक है।

शब्द तीन प्रकार के माने गये हैं – वाचक, लक्षक और व्यंजक। इन्हीं शब्दों के आधार पर इनके तीन अर्थ भी होते हैं – वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ। वाच्यार्थ वह है जिस अर्थ में शब्द का प्रयोग किया जाता है। लक्ष्यार्थ से प्रयोगकर्त्ता का अभिप्राय समझा जाता है। व्यंग्यार्थ द्वारा वच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ ध्वनित किया जाता है।

भारतीय कव्यशास्त्रियों ने शब्द की तीन शक्तियों की ओर संकेत किया है – अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। 'साहित्य दर्पण' में आचार्य विश्वनाथ ने शब्द के तीन अर्थ माने हैं – 'अर्थौं वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यंग्यश्चेति त्रिधाः मतः'।

अर्थात् शब्द के अर्थ तीन होते हैं – वाक्य, लक्ष्य और व्यंग्य। इन्हीं तीनों के आधार पर उन्होंने तीन शब्द–शक्तियों की ओर संकेत किया है –

वाच्योऽर्थोऽ भिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः।
व्यंग्यो व्यंजनया ताः स्युस्तिस्त्रः शब्दस्य शक्तयः।।

अर्थात् शब्द की तीन शक्तियाँ होती हैं – वाच्य का अर्थ कराने वाली अभिधा, लक्ष्य का बोध कराने वाली लक्षणा तथा व्यंग्य का बोध कराने वाली व्यंजना शब्दशक्ति होती है। शब्द शक्तियों के विधायक तत्त्व शब्द और अर्थ का विश्लेषण इस प्रकार है –

शब्द	**अर्थ**	**शब्द शक्ति**
वाचक	वाच्यार्थ	अभिधा
लक्षक	लक्ष्यार्थ	लक्षणा
व्यंजक	व्यंग्यार्थ	व्यंजना

तीनों शब्द शक्तियों का विश्लेषण इस प्रकार है –

4.3. अभिधा

लक्षणः साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने 'अभिधा शब्द शक्ति का परिचय इस प्रकार दिया है'

"तत्र संकेतितार्थस्य बोधनाद अग्रिमा।।''

अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ अथवा संकेतित अर्थ के बोधक व्यापार (मूल कारण) को अभिधा शब्द–शक्ति कहते हैं।

वाचक शब्दः जो मुख्य अर्थ अथवा संकेत अर्थ का बोध कराता है उसे वाचक शब्द कहते हैं। अर्थात् जिस शब्द का अर्थ अभिधा शक्ति द्वारा ज्ञात होता है उसे 'वाचक' शब्द कहते हैं।

वाच्यार्थ – अभिधा शब्दशक्ति द्वारा प्राप्त ज्ञान वाच्यार्थ कहलाता है। वाच्यार्थ किसी शब्द का निश्चित व संकेतित अर्थ होता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रत्येक शब्द के लिए अर्थ नियत है और प्रत्येक अर्थ के लिए शब्द नियत है। किसी शब्द के अर्थ को संकेत कहा जाता है। अर्थज्ञान के लिए शब्द का संकेतार्थ जानना अत्यंत आवश्यक है। किसी शब्द के संकेतार्थ का ज्ञान आठ साधनों से हो सकता है –

1. **व्याकरण** – धातु, प्रत्यय लगाने से किसी शब्द का संकेतार्थ ज्ञान होता है।
2. **उपमान** – 'गाय के समान 'नील गाय' होती है' इस वाक्य में नील गाय को गाय के समान बताया गया है। इस प्रकार उपमान से भी अर्थ का ज्ञान होता है।
3. **कोश** – कोशों से भी शब्दों के अर्थ का ज्ञान होता है।
4. **व्यवहार** – किसी वस्तु को व्यवहार में लाने से भी किसी वस्तु का बोध होता है।
5. **वाक्य शेष** – कभी–कभी वाक्य के अन्तर्गत किसी शब्द का अर्थ मालूम नहीं होता किन्तु जब उस वाक्य के साथ अन्य वाक्य जोड़ दिया जाता है तो उस शब्द का अर्थ मालूम पड़ जाता है। यदि कोई कहे कि 'सिंह से डरना चाहिए' तो इस सिंह शब्द का पूर्ण संकेत ग्रहण नहीं होता। यदि इस वाक्य के साथ 'क्योंकि सिंह समस्त जंगली जीवों का राजा है' आदि वाक्य जोड़ने से 'सिंह' शब्द का अर्थ पूरी तरह समझ में आ जाता है।
6. **आप्त वाक्य** – श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि के आधार पर कहे गये वाक्य आप्त वाक्य कहलाते हैं। आप्त वाक्यों के आधार पर भी किसी शब्द का विशिष्ट ज्ञान हो जाता है।
7. **विवृत्ति** – 'विवृति' से तात्पर्य है – विवरण। 'कुंभ को बनाने वाला' विवरण देने से कुंभकार का बोध होता है।
8. **सिद्धपक्ष सान्निध्य** – सिद्ध या ज्ञान शब्द की निकटता से भी शब्दार्थ का ज्ञान होता है। जैसे – वसंत में पिक मस्ती में कूकता है। यहाँ वसंत के सान्निध्य से 'पिक' का अर्थ स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

अभिधा के संदर्भ में यहाँ वाच्यार्थ का उल्लेख करना भी प्रासंगिक होगा। वाच्यार्थ तीन प्रकार का होता है

4.3.1. रूढ़ि

जहां केवल समुदाय शक्ति का बोध होता है, भागों की कल्पना नहीं की जाती, वहाँ रूढ़ि मानी जाती है जैसे –मणि इत्यादि।

4.3.2. यौगिक

यहाँ केवल प्रकृति प्रत्यय के रूप में खण्ड करके ही अर्थ का बोध होता है वहां यौगिक अर्थ होता है जैसे – 'पाचक' शब्द के दो खण्ड हैं – पच+अक। 'पच्' का अर्थ है – पकाना और 'अक' का अर्थ है वाला। इस प्रकार जो पकाने का कार्य करता है उसे 'पाचक' कहते हैं।

4.3.3. योग रूढ़ि

यहाँ यौगिक शब्द किसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो जाता है वहाँ योग रूढ़ि होती है जैसे 'पंकज' शब्द का यौगिक अर्थ है – कीचड़ से उत्पन्न होने वाला। किन्तु इसका प्रयोग कीचड़ से उत्पन्न होने वाली सभी वस्तुओं के लिए न होकर केवल 'कमल' के लिए होता है। इसलिए यहाँ कमल 'योग रूढ़' शब्द है।

4.3.4. अनेकार्थक शब्द

यहां 'अभिधा' के संदर्भ में अनेकार्थक शब्दों की चर्चा करना आवश्यक है। अनेकार्थ शब्दों के विषय में यह संदेह हो सकता है कि कवि को केवल एक ही अर्थ अभीष्ट है अथवा एक से अधिक। इसके लिए आचार्यों ने कतिपय नियम बनाये हैं, उनका अवलोकन आवश्यक है –

1. **संयोग से निर्णय** – जैसे – 'शंखचक्र' से युक्त हरि' इस वाक्यांश में 'शंखचक्र' के संयोग से विष्णु का अर्थ लिया जाएगा, सूर्य, सिंह, अश्व इत्यादि का अर्थ नहीं।
2. **वियोग** से भी अर्थ नियंत्रित होता है जैसे – 'शंखचक्र रहित हरि' यहाँ 'शंखचक्र' के वियोग से विष्णु का अर्थ निकलता है।
3. **साहचर्य** से भी अर्थ का निर्धारण होता है जैसे 'राम लक्ष्मण' में लक्ष्मण के साहचर्य से 'राम' (दशरथ का पुत्र) का अर्थ द्योतित होता है बलराम या परशुराम का नहीं।
4. **'विरोध' से निर्णय** – उदाहरणार्थ 'उनकी राम और अर्जुन की गति' होगी। इस वाक्य में विरोध के कारण 'राम' का अर्थ परशुराम और अर्जुन का नाम सहस्त्रार्जुन होगा।
5. **प्रयोजन से निर्णय** – उदाहरणार्थ, 'मुक्ति के लिए स्थाणु का भजन करो'। यहां प्रयोजन से 'स्थाणु' का अर्थ शिव होगा, न कि वृक्ष खण्ड।
6. **प्रकरण** – उदाहरणार्थ 'देव सब समझते हैं' यहां प्रकरण से देव का अर्थ 'राजा' होगा, न कि देवता।
7. **विशिष्ट धर्म** – उदाहरणार्थ 'मकरध्वज कुपित हैं' वाक्य में मकरध्वज शब्द के दो अर्थ हैं – समुद्र व कामदेव। यहां कोप धर्म के कारण मकरध्वज का अर्थ कामदेव ही सिद्ध होता है।
8. **अन्य शब्द की सन्निधि** – यहाँ 'सन्निधि' का अर्थ है– समीपता। अनेकार्थक शब्दों का अर्थ निर्णय अन्य शब्दों की समीपता से भी होता है। जैसे – 'परशुराम ने सहस्त्रबाहु अर्जुन को मारा।' इस वाक्य में 'अर्जुन' शब्द का अर्थ कुन्तीपुत्र न होकर कर्णवीर्य होगा क्योंकि सहस्त्रबाहु की सन्निधि से यही अर्थ निकलता है।
9. **सामर्थ्य** – सामर्थ्य का अर्थ है – संपादन शक्ति। एक उदाहरण द्रष्टव्य है – 'कटि कटि अंग गिरहि सर लागे'। यहाँ 'सर' शब्द के कई अर्थ हैं – सिर, तालाब, बाण आदि। यहाँ प्रसंगानुसार 'बाण' अर्थ ही समीचीन है क्योंकि बाण में अंगों को काटने की सामर्थ्य है।

10. v kSp R & 'औचित्य' से तात्पर्य है – पदार्थ की योग्यता। एक उदाहरण द्रष्टव्य है – "हरि के चढ़ते ही उड़ै सब द्विज एकै साथ"। यहाँ 'हरि' शब्द के कई अर्थ हैं – विष्णु, सूर्य, बंदर आदि। औचित्य की दृष्टि से यहाँ बंदर शब्द ही सार्थक है। इसी प्रकार 'द्विज' शब्द के कई अर्थ हैं ब्राह्मण, दांत, पक्षी आदि। उड़ने की योग्यता रखने के कारण यहाँ 'पक्षी' अर्थ ही सार्थक है।

11. **देश** – यहाँ 'देश' से तात्पर्य है – किसी स्थान की विशेषता (अनेकार्थ शब्दों का अर्थ निर्णय किसी स्थान की विशेषता के आधार पर निर्धारित किया जाता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है –

    "मरु में जीवन दुर्लभ है"। 'जीवन' शब्द के कई अर्थ हैं – जिन्दगी, जल, जीविका, पवन आदि। यहाँ 'रेगिस्तान' के संदर्भ में 'जल' अर्थ ग्रहण करना समीचीन होगा।

12. **काल** – 'काल' का अर्थ है – समय या ऋतु। 'काल' से प्रातः, संध्या, मास, पक्ष, ऋतु आदि का बोध होता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है – "मधु में मदमस्त हुई कोकिल"। 'मधु' शब्द अनेकार्थक है – बसंत, मदिरा, शहद, सोमरस, दूध आदि। यहाँ प्रसंग के अनुसार 'बंसत', अर्थ ही सार्थक है क्योंकि कोकिल बंसत में ही मदमस्त होती है।

13. **पुल्लिंग या स्त्रीलिंग का प्रयोग**

अनेकार्थक शब्दों का निर्णय पुल्लिंग या स्त्रीलिंग द्वारा किया जाता है। एक उदाहरण दृष्टव्य है – 'ललाट पर टीका बहुत सुंदर लगता है' 'टीका' शब्द के कई अर्थ हैं – तिलक, व्याख्या, कलंक, नजराना, आभूषण आदि।

यहाँ प्रसंगानुसार तिलक शब्द ही समीचीन है।

4.3.5. 'अभिधा' शब्द शक्ति का महत्त्व

वस्तुतः 'अभिधा' उस शब्दशक्ति को कहते हैं जिसकी सहायता से किसी शब्द का साधारण, प्रचलित या मुख्य संकेतित अर्थ समझा जाता है। मुख्य या प्रथम अर्थ का बोधक होने के कारण इसे 'मुख्या' या 'अग्रमा' भी कहते हैं। आचार्य मुकुल भट्ट ने 'अभिधा' को मुख के समान मुख्य मानते हुए लिखा है – "जिस प्रकार शरीर के सभी अवयवों में सर्वप्रथम मुख दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार सभी अर्थों से पहले इसी का बोध होता है। अतः मुख की भांति मुख्य होने के कारण इसे अन्य सभी प्रतीक अर्थों का मुख कहते हैं। साक्षात् संकेतित अर्थ ही सभी अर्थों का मुख होता है। इसका बोध सभी प्रकार के प्रतीत अर्थों के पूर्व ही हो जाता है, अतः इसे शब्द की प्रथम शक्ति कहते हैं"।

आचार्य कुंतक ने अपने ग्रंथ में 'वक्रोक्ति' को विचित्रा अभिधा कहा है। उनकी दृष्टि में विचित्रा अभिधा से उत्तम कोई अन्य व्यापार नहीं है। हिन्दी के आचार्य कवि देव ने अपने ग्रंथ 'शब्द रसायन' के पृष्ठ प्रकाश में अभिधा को प्रमुखता दी है तथा व्यंजना और लक्षणा को उससे हीन माना है। यथा –

"अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लच्छना लीन।
अधम व्यंजना रस कुटिल, उलटी कहत नवीन।।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अभिधा को शब्द के मुख्य अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति कहा है। पं. रामदहिन मिश्र ने अभिधा को साक्षात् सांकेतिक अर्थ का बोधक व्यापार कहकर अभिधा की व्याख्या की है तथा इसका महत्त्व प्रतिपादित किया है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार, "भाषा की जिस शक्ति से शब्द के सामान्य प्रचलित अर्थ का बोध होता है वह अभिधा शब्द शक्ति है।'' वस्तुतः अभिधा प्रारंभिक अर्थ का बोध कराने वाली शब्द शक्ति है। आचार्य मम्मट, आचार्य विश्वनाथ, आचार्य भट्टलोल्लट ने 'अभिधा' शब्द शक्ति की महत्ता प्रतिपादित की है।

4.3.6. स्व–मूल्यांकन

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा।

1. जो मुख्य अर्थ अथवा संकेत अर्थ का बोध कराता है उसे ....शब्द कहते हैं।
2. अभिधा शब्दशक्ति द्वारा प्राप्त ज्ञान ....कहलाता है।
3. किसी शब्द के संकेतार्थ का ज्ञान ....साधनों से हो सकता है।
4. यहाँ केवल समुदाय शक्ति का बोध होता है, भागों की कल्पना नहीं की जाती, वहाँ ....मानी जाती है।
5. यहाँ केवल प्रकृति प्रत्यय के रूप में खण्ड करके ही अर्थ का बोध होता है वहां ....अर्थ होता है।
6. यहाँ यौगिक शब्द किसी ....अर्थ में रूढ़ हो जाता है वहाँ योग रूढ़ि होती है।
7. आचार्य कुंतक ने अपने ग्रंथ में .... को विचित्रा अभिधा कहा है।
8. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अभिधा को शब्द के ....अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति कहा है।
9. अभिधा को शब्द की ....शक्ति कहते हैं।
10. अभिधा................................ अर्थ का बोध कराने वाली शब्द शक्ति है।

4.4. लक्षणा

लक्षणा भी शब्द की महत्त्वपूर्ण शक्ति है जिसमें मुख्यार्थ के स्थान पर उससे सम्बन्ध रखने वाला दूसरा अर्थ लिया जाता है उसे लक्षणा कहते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य दर्पण' शीर्षक ग्रंथ में लक्षणा की परिभाषा इस प्रकार दी है–

मुख्यार्थ बाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढे प्रयोजनाद् वासौ लक्षणाशक्तिरर्पिता।।

अर्थात् मुख्यार्थ की बाधा होने पर, रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण, जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ लक्षित हो, उसे लक्षणा शब्दशक्ति कहते हैं।

जो शब्द लक्षण शक्ति द्वारा लक्ष्यार्थ का द्योतन करता है उसे लक्षक अथवा 'लाक्षणिक' शब्द कहते हैं। लक्षणा शक्ति द्वारा गृहीत अर्थ 'लक्ष्यार्थ' कहलाता है। वस्तुतः नये अर्थ को उत्पन्न करना लक्षणा शब्दशक्ति का कार्य है। लक्षणा के प्रयोग से कथन में एक अनूठापन आ जाता है। इसके द्वारा चमत्कार की सृष्टि होती है जो प्रभावशाली और अह्लादक होता है। कहावतों–मुहावरों की अर्थ–गरिमा शब्द शक्ति के चमत्कार के कारण है। 'लक्षणा' शब्दशक्ति के पांच बिन्दु दृष्टव्य हैं–

1. व्याकरण की दृष्टि से लक्षणा में वाक्य वाक्यांश होता है।
2. लक्षणा के अन्तर्गत विशेष शब्द या शब्द समूह का वाच्यार्थ ग्रहण करने में बाधा उपस्थित होती है।

3. लक्षणा श्रोता के लिए एक ऐसे अर्थ की उद्‌भावना करती है जो मुख्यार्थ से किसी न किसी प्रकार सम्बन्धित है।

4. लक्षणा में कल्पित अर्थ को मुख्यार्थ से जोड़कर वांछित अर्थ की प्राप्ति होती है।

5. लक्षणा में मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ पर रूढ़ि (परम्परा) द्वारा पहुंचा जाता है।

आचार्य मम्मट ने भी लक्षणा शब्द शक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है–

मुख्यार्थ बाधे लद्योगे रुढ़ि तोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थों लक्ष्यते यत्सालक्षणारोपिता क्रिया।।

(काव्य प्रकाश, 2/9)

अर्थात् जहाँ अभिधा द्वारा अर्थ की सिद्धि में बाधा होने पर किसी रूढ़ि या आश्रित मुख्यार्थ से सम्बन्धित दूसरा आरोपित अर्थ ग्रहण कर अवरोध दूर किया जाता है, वहाँ लक्षणा का व्यापार समझना चाहिए। लक्षणा व्यापार में तीन तथ्य प्रमुख हैं –

1. मुख्यार्थ में बाधा

2. मुख्यार्थ से सम्बधित दूसरा अर्थ।

3. अर्थ को रूढ़ि या प्रयोजन के आधार पर समझना।

लक्षण का एक उदाहरण द्रष्टव्य है –

'नौकर गधा है।'

यहाँ नौकर गधा कैसे हो सकता है – यह मुख्यार्थ में बाधा है। नौकर गधे के समान मूर्ख है– यह मुख्यार्थ से सम्बन्धित कार्य है। यह अर्थ प्रयोजन के आधार पर ग्रहण किया गया है।

4.4.1. लक्षणा के भेद

रूढ़ि और प्रयोजन के आधार पर लक्षणा के दो भेद हैं – रूढ़ि लक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा।

अ. रूढ़ि लक्षणा – जहाँ मुख्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ को ग्रहण किया जाता है, वहाँ रूढ़ि लक्षणा होती है जैसे– 'पंजाब बहादुर है' यहां 'पंजाब' का मुख्यार्थ (प्रदेश विशेष) छोड़कर उसके रूढ़ या लोक प्रचलित नवीन अर्थ 'पंजाबवासी' या 'पंजाबी ग्रहण किया गया है। अतः यहां रूढ़ि लक्षणा है।

आ. प्रयोजनवती लक्षणा

जहाँ किसी विशेष अभिप्राय या प्रयोजन से लाक्षणिक शब्द का प्रयोग हो, वहां प्रयोजनवती लक्षणा होती है, जैसे– 'शिवाजी शेर थे।'

यहाँ शेर के मुख्यार्थ अर्थात् पशु विशेष को छोड़कर उसके नवीन अर्थ निर्भयता और निडरता को लिया गया है जो विशिष्ट प्रयोजन का द्योतक है।

प्रयोजनवती लक्षणा के दो भेद हैं – गौणी और शुद्ध। जहाँ सादृश्य गुण के आधार पर अर्थ लगाया जाता है वहाँ गौणी लक्षणा होती है। 'चन्द्र–मुख' में सादृश्य के आधार पर गौणी लक्षणा है। जहां मुख्यार्थ के बाधिक होने पर सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्त किसी अन्य सम्बन्ध द्वारा लक्ष्यार्थ का ज्ञान हो, वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। जैसे– 'गंगायां

घोष' अर्थात् गंगा की–सी पवित्रता व शीतलता। इन दोनों के भी दो प्रमुख भेद हैं – उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा। उपादान लक्षणा को अजहत्स्वार्था लक्षणा भी कहते हैं। उपादान का अर्थ है– सामग्री लेना अर्थात् मुख्यार्थ को लक्ष्यार्थ के रूप में ग्रहण किया जाता है। जैसे– 'मिला न वन ही न भवन ही तुझको' यहां वन से तात्पर्य 'लक्ष्मण' और 'भवन' से तात्पर्य सभी सुखों से है। 'लक्षणलक्षणा' को जहत्स्वार्था भी कहते हैं। जहाँ लक्ष्यार्थ की प्रधानता हो और मुख्यार्थ का उपयोग न हो वहां लक्षण लक्षणा होती है जैसे 'गगायां घोषरू'।

उक्त चारों शब्द शक्तियों के भी दो–दो भेद हैं – सारोपा और साध्यवसाना। जहाँ उपमेय (विषय) और उपमान (विषयी) का शब्द द्वारा अलग–अलग कथन किया जाए वहाँ सारोपा लक्षणा होती है जैसे–

रामकथा सुंदर करतारी। संशय विहन उड़ावन हारी।।

यहाँ रामकथा पर 'करतार' और 'संशय' पर 'विहन' का आरोप है।

जहाँ आरोप के विषय का शब्द द्वारा निर्देश न होकर, केवल मूलवस्तु का उल्लेख हो, वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है। जैसे– 'नैश गगन के गात्र में पड़े फफोले हाय।'

यहाँ 'तारे' उपमान का अध्यवसान (लोप) है, उसकी सूचना केवल आरोत्यमान 'फफोले' से दी गई है।

इस प्रकार लक्षणा के कुल मिलाकर आठ भेद हुए। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

1. गौणी उपादान लक्षणा सारोपा

उदाहरण – 'वह देखो सामने खड़ा हड्डियों का ढांचा है।'

यहाँ 'हड्डियों का ढांचा' का लक्ष्यार्थ है–दुबला–पतला आदमी। यहां वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य होने के कारण गौणी है। व्यक्ति, हड्डियों का ढांचा होने के साथ–साथ क्षीणकाय भी है, अतः यहां उपादान लक्षणा भी है। 'वह' और 'हड्डियों का ढांचा' में उपमेय–उपमान का आरोप होने के कारण 'सारोपा' भी है।

2. गौणी उपादान लक्षणा साध्यवसाना

उदाहरण–

जब हुई हुकूमत आँखों पर जन्मी चुपकी मैं आहों में।
कोड़ों को खाकर मार पली, पीड़ित की दबी कराहों में।।

(रामधारी सिंह 'दिनकर')

उक्त पंक्तियों में 'कोड़ों' की खाकर मार का लक्ष्यार्थ है– अतिशय अत्याचार। यहां वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य सम्बन्ध होने के कारण गौणी है। 'कोड़ों की मार खाकर' अतिरिक्त अर्थ अत्याचार भी है। अतः यहां उपादान लक्षणा है। यहाँ केवल अप्रस्तुत का प्रयोग किया गया है, अतः यहाँ साध्यवसाना है।

3. गौणी लक्षण–लक्षणा सारोपा

उदाहरण

स्वर्गलोक की तुम अप्सरि थी।
तुम वैभव मे पली हुई थीं।।

(हरिकृष्ण प्रेमी)

यहाँ 'तुम' और 'अप्सरि' में सादृश्य सम्बन्ध होने के कारण गौणी है। यहाँ वाच्यार्थ 'अप्सरि' (अप्सरा) वक्ता को अभीष्ट नहीं है अपितु सर्वांग सुंदरी मोहिनी आदि अभीष्ट है, अतः यहाँ लक्षण लक्षणा है। 'तुम और 'अप्सरि' में उपमान–उपमेय का आरोप होने के कारण सारोपा है।

4. गौणी लक्षणलक्षणा साध्यवसाना

उदाहरण –

'फूले कमलन यों अली, विहँसि चितै इहिं ओर।।'

यहाँ नायक और भ्रमर, नायिका और कमल में सादृश्य सम्बन्ध होने के कारण गौणी है। भ्रमर और कमल का अर्थ छूटने से लक्षण लक्षणा है। केवल उपमान के कथन के कारण साध्यवासना है।

5. शुद्धा उपादान लक्षणा सारोपा

उदाहरण–

'भाले आए, जब वहां, चले बाण घन्घोर।'

यहाँ 'भाले' शब्द का वाच्यार्थ अस्त्र विशेष है तथा लक्ष्यार्थ भालाहारी पुरुष। दोनों में धार्य–धारक सम्बन्ध है अतः शुद्धा है। 'भाला' का अर्थ 'भालाधारी' अर्थ होने के कारण उपादान लक्षणा है। यहाँ 'ये' विषयी है और 'भाले' विषय है, अतः यहाँ सारोपा है।

6. शुद्धा उपादान लक्षण साध्यवसाना

उदाहरण

विद्युत की इस चकाचौंध में देख दीप की लौ रोती है।
अरी ! हृदय को थाम महल के लिए झौंपड़ी बलि होती है।।

यहाँ 'महल' का लक्ष्यार्थ है – महलों में रहने वाले धनी 'झोंपड़ी' का लक्ष्यार्थ है– झोंपड़ी निवासी निर्धन। 'महल और धनी' 'झोंपड़ी और निर्धन' में आश्रय–आश्रित का सम्बन्ध होने के कारण शुद्धा है। 'महल' और 'झोंपड़ी' के अतिरिक्त अर्थों के कारण उपादान लक्षणा है। यहाँ विषयी का प्रयोग होने और 'निवासी' का प्रयोग न होने के कारण यहाँ साध्यवसाना है।

7. शुद्धा लक्षण–लक्षणा सरोपा

उदाहरण –

'आज भुजंगों' से बैठे हैं वे कंचन के घड़े दबाए।

(हरिकृष्ण प्रेमी)

यहाँ 'भुजंग' का वाच्यार्थ है सर्प और लक्ष्यार्थ धन संग्राहक व्यक्ति। 'भुजंग' और 'वे' ये तात्कर्म्य सम्बन्ध होने का कारण शुद्धा है। 'भुजंग' शब्द का अर्थ अभीष्ट नहीं है अतः यहाँ लक्षण लक्षणा है।

'भुजंग' और 'वे' में विषय –विषयी का सम्बन्ध होने के कारण सारोपा है।

8. शुद्धा लक्षणलक्षणा साध्यवसाना

उदाहरण

अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध, और आँखों में पानी।।

(मैथिलीशरण गुप्त)

उक्त पंक्तियों में 'आँचल' का तात्पर्य है – पयोधर। आँचल और पयोधर में सामीप्य सम्बन्ध होने के कारण शुद्धा है। 'आँचल' का मूलार्थ गौण होने के कारण लक्षण–लक्षणा है।

4.4.2. लक्षणा शब्द शक्ति का महत्त्व

कतिपय आचार्यों ने लक्षणा शब्दशक्ति के महत्त्व को रेखांकित किया है। उन्होंने इसे काव्योत्कृष्टता का मूलाधार माना है। रीतिकालीन कवि घनानंद ने लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग में नैपुण्य हासिल किया है। घनानंद के लाक्षणिक प्रयोगों की प्रशंसा करते हुए आचार्य शुक्ल जी कहते हैं – 'अपनी भावनाओं के अनूठे रूप–रंग का व्यंजना के लिए भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला हिन्दी के पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ। भाषा के लक्षणा व्यंजना बल की सीमा कहाँ तक है, इसकी पूरी परख उन्हीं को थी।' इसी प्रकार छायावादी कवियों ने लाक्षणिकता को विशेष महत्त्व दिया है।

4.4.3. स्व–मूल्यांकन

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु आप निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा अपने अध्ययन का निरीक्षण कर सकते हैं। यदि आप बहुविकल्पीय प्रश्नों के उत्तर देने में असमर्थ हैं तो आपको निराश होने की अवश्यकता नहीं। आप अभी तक के अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

1. **मुख्यार्थ की बाधा होने पर, रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण, जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ लक्षित हो, वहाँ कौन–सी शब्दशक्ति होगी ?**

   (क) अभिधा (ख) व्यंजना (ग) लक्षणा (घ) यौगिक

2. **'लक्षणा' शब्दशक्ति के कितने बिन्दु हैं ?**

   (क) पांच (ख) तीन (ग) दो (घ) सात

3. **मुख्यार्थ में बाधा, मुख्यार्थ से सम्बधित दूसरा अर्थ, अर्थ को रूढ़ि या प्रयोजन के आधार पर समझना, ये किस शब्दशक्ति के तीन प्रमुख तथ्य हैं ?**

   (क) अभिधा (ख) व्यंजना (ग) लक्षणा (घ) यौगिक

4. **'नौकर गधा है।' यह किसका उदाहरण है ?**

   (क) अभिधा (ख) व्यंजना (ग) लक्षणा (घ) यौगिक

5. **जहाँ मुख्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ को ग्रहण किया जाता है, वहाँ कौन–सी लक्षणा होती है?**

(क) प्रयोजनवती लक्षणा (ख) रूढ़ि लक्षणा

(ग) गौणी उपादान लक्षणा सारोपा (घ) गौणी लक्षण–लक्षणा सारोपा

6. **लक्षणा के कुल मिलाकर कितने भेद हैं ?**

(क) पांच (ख) तीन (ग) आठ (घ) सात

4.5. व्यंजना

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में व्यंजना की परिभाषा इस प्रकार दी है–

विरतास्वाभिधाद्यासु यथार्थों बोध्यते परः।
सा वृत्ति व्यंजना नाम शब्दस्यार्थदिकस्य च।।

अर्थात् अभिधा और लक्षणा द्वारा अपना–अपना अर्थ ज्ञात करके शांत हो जाने पर जिसके द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, उसे 'व्यंजना' शब्दशक्ति कहते हैं। जिस शब्द से व्यंजना शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है उसे व्यंजक शब्द कहते हैं। व्यंजना शक्ति द्वारा प्रतीत अर्थ व्यंग्यार्थ होता है।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध समीक्षक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, 'व्यंजना शक्ति ऐसे अर्थ को बतलाती है, जो अभिधा, लक्षणा या तात्पर्य वृत्ति द्वारा उपलब्ध नहीं होता।' वास्तव में व्यंजना शब्द शक्ति भाषा की वह शक्ति है जिसके कारण किसी प्रसंग या प्रकरण विशेष में एक साथ अनेक स्वतंत्र अर्थों की अभिव्यक्ति होती है।

4.5.1 व्यंजना के भेद

विद्वानों ने व्यंजना शब्द शक्ति के दो भेद किये हैं – 'शाब्दी' और 'आर्थी'। शब्दी व्यंजना में व्यंजक शब्द की प्रधानता रहती है और आर्थी व्यंजना में व्यंजक अर्थ की। व्यंजना के दोनों अर्थ भेदों की व्याख्या इस प्रकार है–

अ. शाब्दी व्यंजना – इसके दो उपभेद हैं–अभिधामूला और लक्षणामूला।

क. अभिधामूला व्यंजना

अभिधामूला व्यंजना उसे कहते हैं जिसके द्वारा अनेकार्थक शब्द के उस अन्य अर्थ की प्रतीति होनी होती है जो संयोग या वियोग आदि नियामक कारणों द्वारा घोषित हो चुका हो। एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

मुखर मनोहर स्याम रंग बरसत मुद अनुरूप।
झूमत मतवारी झमकि, वनमाली रस रूप।।

यहाँ 'वनमाली' का संयोग (प्रकरण) द्वारा 'मेघ' अर्थ द्योतित होता है किन्तु अभिधामूला व्यंजना द्वारा वनमाली का 'कृष्ण' अर्थ सटीक प्रतीत होता है।

ख. लक्षणामूला व्यंजना

वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के उपरांत प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे लक्षणामूला व्यंजना कहते हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

'गंगायां घोषः' अर्थात् गंगा नदी पर घोष (अहीरों की बस्ती) है। इस वाक्य–खंड का वाच्यार्थ स्पष्ट है इसका लक्षणामूला व्यंजना से अर्थ होगा – घोष शीतल और पवित्र है।

आ. आर्थी व्यंजना

जहाँ वक्ता की चेष्टा विशेष के कारण व्यंग्यार्थ का बोध हो, वहाँ आर्थी व्यंजना होती है। आचार्य मम्मट ने अपने 'काव्य प्रकाश' में शब्द का अर्थ लगाने के 10 आधार माने हैं– (1) वक्ता (2) बोधव्य (श्रोता) (3) काकु (4) वाक्य (5) वाच्य (6) अन्यसन्निधि (7) प्रस्ताव (प्रकरण) (8) देश (9) काल (10) चेष्टा आदि। इन्हीं विशेष ताओं के कारण आर्थी व्यंजना भी दस प्रकार की मानी जाती है। आर्थी व्यंजना के कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

(1) वक्तृ वैशिष्टयमूलक आर्थी व्यंजना

उदाहरणः

निरखि सेज रंग रग भरी, लगी उसासे लैन।
कछु न चौन चित में रह्यौ, चढत चांदनी रैन।।

अर्थात् होली के दिनों में चांदनी रात में नायिका की अवस्था का वर्णन करते हुए एक सखी नायक को कहती है कि रंग–बिरंगी सेजों को देखकर वह आहें भरने लगती है और विकल हो जाती है। इस कथन से वक्ता का प्रयोजन यह है कि नायक अत्यंत निश्ठुर है, उसे अपनी नायिका से अलग नहीं रहना चाहिए।

(2) बोद्धव्य (श्रोतृ) वैशिष्टय आर्थी व्यंजना

उदाहरणः

खोके आत्मगौरव, स्वतंत्रता भी जीते हैं।
मृत्यु सुखदायक है वीरों, इसे जीने से।।

(वियोगी हरि)

वे अत्यंत विलासी हैं अतः इस परतंत्रता से तो मर जाना अच्छा है।

(3) प्रस्ताव (प्रकरण) वैशिष्टय आर्थी व्यंजना

उदाहरणः

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में, प्रियतम को प्राणों के पण में।
हमीं भेज देती हैं रण में, क्षात्र धर्म के नाते।
सखी ! वे मुझसे कहकर जाते।

(मैथिलीशरण गुप्त)

यह अपनी सखी से यशोधरा की उक्ति है। प्रकरणगत व्यंग्यार्थ यह है कि यदि गौतम यशोधरा से कहकर जाते तो उन्हें यह पुण्यकार्य में कोई बाधा न पहुँचती।

4.5.2. व्यंजना की महत्ता

वस्तुतः व्यंजना शब्द शक्ति काव्य की उत्कृष्टता का मूलाधार है। कतिपय काव्यशास्त्र के मर्मज्ञों ने रस को काव्य की आत्मा माना है लेकिन रस का वही रूप श्रेष्ठ माना है जो व्यंजना से व्यंजित हो। आचार्य आनंदवर्द्धन ने उसी

काव्य को श्रेष्ठ माना है जो व्यंजना प्रधान हो। डॉ0 पुष्पा बंसल के अनुसार, 'व्यंजना शक्ति वक्ता की मानसिक भूमि में प्रवेश करने का एक सुंदर व सशक्त द्वार है।'

काव्यशास्त्र के कतिपय विद्वानों ने इन तीनों शब्द शक्तियों के अतिरिक्त एक चौथी शब्दशक्ति भी मानी है जिसे 'तत्पर्यवृत्ति' कहते हैं। मीमांसको की धारणा है कि तीनों शब्दशक्तियाँ शब्द के अर्थ को प्रस्तुत करती है, पूरे वाक्य के अर्थ को नहीं। 'तात्पर्य वृत्ति' पूरे वाक्य के अर्थ को स्पष्ट करने में सहायता करती है। 'तात्पर्य वृत्ति' को समझते हुए कन्हैयालाल पोछार ने कहा है, "वाक्य में योग्यता, आकाँक्षा और सन्निधि (आसक्ति) का होना आवश्यक है। वाक्य अनेक पदों से युक्त होता है। वाक्य में जो पृथक्–पृथक् स्वतंत्र पद होते हैं उनके पृथक् पृथक् अर्थ का बोध कराना, अभिधा का कार्य है। उनके बिखरे हुए पदों के अर्थों का परस्पर एक को दूसरे के साथ जोड़कर वाक्य बनता है। उस वाक्य के अर्थ का जो बोध कराती है, उसे तात्पर्यवृत्ति कहते हैं।"

वात्तव में, वाक्य से पृथक् पद का कोई अर्थ नहीं है। पदों में वाक्य का अर्थ बोध नहीं होता अपितु वाक्य द्वारा ही पदों का पूर्ण अर्थ द्योतित होता है। कुमारिल भट्ट आदि मीमांसकों के अनुसार पदों के अन्वय अर्थ का ज्ञान तात्पर्य वृत्ति से होता है। वस्तुतः शब्द शक्ति एक सार्वजनीन सिद्धांत है और काव्य के मूल तत्व को अधिक सफलतापूर्वक आत्मसात् किये है, इसमें संदेह नहीं। कविता का लक्ष्य अर्थबोध मात्र नहीं है, किन्तु परिशीलन में संवेदना जगाना और उसके ह्रदय का विस्तार करना है।

4.5.3. स्व–मूल्यांकन

प्रिय विद्यार्थियों ! निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर (✓ / X) सही या गलत चिह्न द्वारा देकर आप अभी तक प्राप्त ज्ञान का स्व–मूल्यांकन कर सकते हैं।

1. आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में व्यंजना की परिभाषा दी है। (   )
2. व्यंजना शक्ति द्वारा प्रतीत अर्थ लक्ष्यार्थ होता है। (   )
3. व्यंजना शब्द शक्ति के दो भेद किये हैं – 'शाब्दी' और 'आर्थी'। (   )
4. शाब्दी व्यंजना के तीन उपभेद हैं। (   )
5. वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के उपरांत प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे अभिधामूला व्यंजना कहते हैं। (   )
6. लक्षणामूला व्यंजना उसे कहते हैं जिसके द्वारा अनेकार्थक शब्द के उस अन्य अर्थ की प्रतीति होनी होती है जो संयोग या वियोग आदि नियामक कारणों द्वारा घोषित हो चुका हो। (   )
7. व्यंजना शब्द शक्ति काव्य की उत्कृष्टता का मूलाधार है। (   )
8. डॉ0 पुष्पा बंसल के अनुसार, 'व्यंजना शक्ति वक्ता की मानसिक भूमि में प्रवेश करने का एक सुंदर व सशक्त द्वार है।' (   )
9. काव्यशास्त्र तीनों शब्द शक्तियों के अतिरिक्त एक चौथी शब्दशक्ति भी मानी है जिसे 'तत्पर्यवृत्ति' कहते हैं। (   )
10. पदों में वाक्य का अर्थ बोध नहीं होता अपितु वाक्य द्वारा ही पदों का पूर्ण अर्थ द्योतित होता है। (   )

4.6 सहृदय की अवधारणा

'रस–निष्पत्ति' और 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया के बीच सहृदय की कल्पना बहुत महत्त्वपूर्ण है। काव्यास्वादन की प्रक्रिया में हमारे सामने तीन सत्ताओं की मौजूदगी होती है–कवि, वस्तु और सहृदय। नगेन्द्र रीतिकाव्य की भूमिका' में कहते हैं कि–

"कवि वह व्यक्ति है जो अपनी अनुभूति को संवेद्य बनाता है, वस्तु तत्त्वतः उसकी अनुभूति है और हृदय वह व्यक्ति है जो कवि की इस संवेद्य अनुभूति को ग्रहण करता है"।

यह भी स्पष्ट है कि रस सर्वथा सामाजिक गत होता है, सहृदयगत होता है। रस की स्थिति वस्तुतः सहृदय की आत्मा में होती है, वस्तु में नहीं। वस्तु तो केवल उसको उद्‌बुद्ध करती है।

सहृदय का शब्दिक अर्थ है – संवेदनायुक्त व्यक्ति, रसिक, जो दूसरों के दुःख–सुख आदि को समझने की योग्यता रखता हो। अतः काव्य में सहृदय की कल्पना का अपना विशिष्ट अर्थ है। सहृदय कौन है ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि– "सहृदय शब्द का अर्थ है – समान हृदय वाला। कवि, चित्रकार, मूर्तिकार या शिल्पी के हृदय में जो विशिष्ट भाव रहता है, उनका वही अनुभव कर सकता है, जो उसी प्रकार का अनुभूति सम्पन्न हृदय रखता है। कलाकार के चित्त में जो व्याकुलता होती है, उसे रूप देने का प्रयत्न ही कला है।. ....जिस प्रकार की व्याकुलता उसके चित्त में होगी उसी प्रकार की व्याकुलता उसकी कृति सहृदय के हृदय में उत्पन्न कर सकती है, उससे ज्यादा नहीं"।

वस्तुतः द्विवेदी जी यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जब तक रचयिता के चित्त में स्वयं रस की अनुभूति नहीं होती तब तक उसका चित्र दर्शक के हृदय में भी रस का उद्रेक नहीं कर सकता। स्पष्ट है कि रसानुभूति सहृदय को भी होनी चाहिए। भरत से लेकर अभिनवगुप्त तक सभी ने इसे स्वीकारा है।

कवि एवं सहृदय की सत्ता के बीच जहां कवि का महत्त्व है वहीं सहृदय की सत्ता को भी महत्वपूर्ण माना गया है। डॉ० नगेन्द्र की दृष्टि में– "कवि अपनी अनुभूति को सहृदय के प्रति इस प्रकार प्रेशणीय बनाता है कि उसको ग्रहण करके सहृदय को आनंद की उपलब्धि होती है"। इसलिए– "सहृदय की रसानुभूति में तो किसी को संदेह हो ही नहीं सकता। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि इस रस की स्थिति दोनों (कवि एवं सहृदय) में से किस में है ? इसका ठीक उत्तर वही है जो अभिनव गुप्त ने दिया है – अर्थात् सहृदय में। क्योंकि जब हम प्रसन्न होते हैं तो अपने हृदय–रस का, अपने आनन्द का ही अनुभव करते हैं। आनंद की स्थिति तो हमारे अपने अन्तर में ही है"।

इस प्रकार नगेन्द्र रसानुभूति की प्रक्रिया के बीच सहृदय की सत्ता और उसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि रस की वास्तविक स्थिति सहृदय के हृदय में ही होती है। यहाँ पर नगेन्द्र इस सवाल से भी रूबरू होते हैं कि सहृदय की रस–चेतना को जाग्रत करने के लिए कवि क्या करे? जाहिर है कि कवि तो अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करेगा लेकिन वह अभिव्यक्ति कैसी हो ? इस पर विचार करते हुए कहा कि – 'अनुभूति को अभिव्यक्त करने में कवि को अपनी अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है, और उस संवेदित अुनभूति को ग्रहण करने में सहृदय को अपनी अस्मिता का आस्वादन होता है। इस प्रकार कवि अनुभूति के साथ अपना रस भी सहृदय के पास भेजता है, अतएव रस की स्थिति कवि के हृदय में मानना उतना ही अनिवार्य है जितना सहृदय के मन में। क्योंकि यदि कवि के कथन में रस नहीं है तो सहृदय में स्थित रस सुप्त पड़ा रहेगा और यदि सहृदय के हृदय में रस नहीं है तो कवि का संवेद्य निष्फल हो जाएगा।'

इस प्रकार नगेन्द्र ने सहृदय के महत्त्व को स्वीकारा है और कहा है कि सहृदय की चेतना का साधारणीकरण या निर्मुक्ति रसास्वादन की अंतिम एवं आधारभूत क्रिया है।

अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोकलोचन' में कहा कि रसचर्वणा के लिए रसिक का हृदय–संवाद होना जरूरी है।.... हृदय–संवाद की शक्ति ही सहृदयत्व है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की विचारधारा भी कुछ इसी तरह की है। वे लिखते हैं – "रसानुभूति की स्थिति में सहृदय के मन में विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के योग से उसका स्थायी भाव कल्पना–प्रक्रिया के द्वारा एक अखंड सौन्दर्यसत्ता के रूप में परिणत हो जाता है और इस प्रकार एक विशिष्ट रूपात्मक सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करता है। यह रूपात्मक सौन्दर्य रसभोक्ता को रसास्वादन में तन्मय बना देता है।" यह वह स्थिति है जिसमें सहृदय विशिष्ट प्रकार के आनंद का अनुभव करता है। शुक्ल जी ने प्रत्यक्ष रूपविधान, स्मृति रूपविधान तथा कल्पित रूपविधान के आधार पर भावों की जागृति को माना तथा कहा कि इस जागृति के पश्चात् ही सहृदय रसानुभूति में सक्षम होता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि सहृदय पहले बाह्य रूप को प्रत्यक्ष करता है और धीरे–धीरे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्त्व की ओर जाता है। उनके अनुसार (और भारतीय आचार्यों के भी अनुसार) – "जब तक कलाकार के चित्त में स्वयं रसानुभूति नहीं होती तब तक वह सहृदय को भी रसबोध नहीं करवा सकता। कलाकार अंतर्मन की अनुभूति को रूप देता है और सहृदय उस रस का बाह्य प्रत्यक्ष करके अंतर्मुखी होता है।"

4.7 सारांश

स्पष्ट है कि रस सहृदय श्रोता या पाठक के चित्त में उत्पन्न होता है। इसलिए साधारणीकरण की प्रक्रिया में सहृदय का अपना विशिष्ट महत्त्व है जिसे संस्कृत आचार्यों ने भी स्वीकारा है और हिन्दी के आचार्यों ने भी उसे महत्त्वपूर्ण माना है।

4.8 कठिन शब्द

1. सहृदय – कोमल हृदय वाला
2. प्रक्रिया – प्रकरण, क्रिया
3. विशिष्ट – विशेष तायुक्त, प्रसिद्ध
4. जागृति – जागरण
5. रत्नानुभूति – रस की अनुभूति

4.9. अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 'शब्द शक्ति' की परिभाषा देते हुए 'अभिधा' शब्द शक्ति का विस्तृत परिचय दीजिए।

____

____

____

____

____

2. अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शब्दशक्ति का परिचय देते हुए काव्य में इनकी उपयोगिता का निरूपण कीजिए।

3. काव्य के लिए इन तीनों शब्द शक्तियों में से कौन–सी महत्त्वपूर्ण है? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

4. "व्यंजना शब्द शक्ति वक्ता की मानसिक भूमि में प्रवेश करने का एक सुंदर व सशक्त द्वार है।" इस कथन के आलोक में व्यंजना शब्दशक्ति का परिचय देते हुए इसकी महत्ता प्रतिपादित कीजिए।

5. शब्द शक्ति के आलोक में अनोकार्थक शब्दों का परिचय दीजिए।

6. लक्षणा शब्द शक्ति के भेदों–उपभेदों का परिचय दीजिए।

7. व्यंजना के भेद बताते हुए इसकी महत्ता बताइए।

8. रस–निष्पत्ति पर विचार करते हुए रस–निष्पत्ति की प्रक्रिया पर प्रकाश डालें।

9. रस–निष्पत्ति विषयक भट्टलोल्लट के मत की व्याख्या कीजिए।

10. साधारणीकरण विषयक विभिन्न आचार्यों के मतों पर प्रकाश डालिए।

4.10. उत्तर कुंजी

4.3.6. स्व–मूल्यांकन

1. वाचक 2. वाच्यार्थ 3. आठ 4. रूढ़ि 5. यौगिक 6. विशेष 7. 'वक्रोक्ति' 8. मुख्य 9. प्रथमा 10. प्रारंभिक

4.4.3. स्व–मूल्यांकन

1. लक्षणा 2. पांच 3. लक्षणा 4. लक्षण 5. रूढ़ि लक्षणा 6. आठ

4.5.3. स्व–मूल्यांकन

1. सही 2. गलत 3. सही 4. गलत 5. गलत 6. गलत 7. सही 8. सही 9. सही 10. सही

4.11. पठनीय पुस्तकें

(1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा, हरियाणा ग्रंथ अकादमी पंचकूला, 2013

(2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकशन, वाराणसी, 2023

(3) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय, वाणी प्रकाशन, 2024

(4) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2019

रस सम्प्रदायः विभिन्न आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ

रूपरेखा

5.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
5.2 प्रस्तावना
5.3 रस सम्प्रदाय विभिन्न आचार्य एवं उनकी स्थापनाएं
• स्व–मूल्यांकन : क
5.3.1 ध्वनि पूर्ववर्ती रस विरोधी धारा के आचार्य
5.3.2 ध्वनि पूर्ववर्ती रसवादी धारा के आचार्य
• स्व–मूल्यांकन : ख
5.3.3. ध्वनि परवर्ती काल के आचार्य एवं उनके सिद्धान्त
5.4 आधुनिक युग में रस चिन्तन
• स्व–मूल्यांकन : ग
5.5 सारांश
5.6 कठिन शब्द
5.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
5.8. उत्तर कुंजी
5.9 पठनीय पुस्तकें

5.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थीयों ! इस पाठ का उद्देश्य आपको रस सम्प्रदाय के विभिन्न आचार्यों एवं उनकी स्थापनाओं से परिचित करवाना है।

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आपको–

- रस सम्प्रदाय के विषय में जानकारी प्राप्त होगी।
- ध्वनि पूर्ववर्ती रस विरोधी धारा, रसवादी धारा तथा ध्वनि परवर्तीकाल के आचार्यों के सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- आधुनिक युग में रस चिन्तन को समझ सकेंगे।

5.2 प्रस्तावना

भारतीय काव्यशास्त्र में रस–सिद्धान्त सर्वप्रमुख एवं सबसे प्राचीन काव्य–सिद्धान्त है। शेष सम्प्रदायों का विकास इसके बाद या इसी के सन्दर्भ रूप में हुआ। सामान्य व्यवहार में रस का प्रयोग चार अर्थों में होता है– पदार्थों का

रस, आयुर्वेद का रस, साहित्य का रस, भक्ति का रस। साहित्य का रस ही काव्य सौन्दर्य, काव्यास्वाद और काव्यानन्द कहा जा सकता है।

5.3 रस सम्प्रदाय विभिन्न आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ

रस सम्प्रदाय की लम्बी और सुदृढ़ परम्परा रही है। जिसे सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में बांटा जा सकता है – ध्वनि पूर्ववर्ती काल, ध्वनि काल और ध्वनि परवर्ती काल। लेकिन रस के सम्पूर्ण विवेचन का आधार रस सिद्धान्त का सूत्रपात करने वाले भरतमुनि के प्राचीनतम् ग्रन्थ 'नाट्य शास्त्र' का यह प्रसिद्ध सूत्र है।

'तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पतिः'।

अर्थात् विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि के संयोग से इसकी निष्पत्ति होती है। अपने कथन को स्पष्ट करते हुए भरतमुनि उदाहरण देते हैं।

"यथा हि नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्र......... स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति"।

अर्थात् जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से (भोज्य) रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुड़ादि प्रत्यों, व्यंजनों और औषधियों से शाडवादि रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी (नाट्य) रस रूप को प्राप्त होते हैं। अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए भरतमुनि प्रश्न करते हैं 'रसः इति कः पदार्थः।' रस कौन–सा पदार्थ है ? उत्तर स्वरूप कहते है 'आस्वाद्यत्वात्' आस्वाद्य होने से अर्थात् जो आस्वाद्य हो, वह रस है। जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से रस का आस्वादन करते हुए हर्षादि का अनुभव होता है उसी प्रकार प्रेक्षक विविध भावों एवं अभिनय द्वारा व्यंजित स्थायी भाव का आस्वादन करते हुए हर्षादि को प्राप्त करते हैं। नाट्य माध्यम से आस्वादित ये रस नाट्य रस कहलाते हैं।

भारतमुनि के रस विवेचन के दो आधार हुए रस निष्पत्ति और प्रेक्षक द्वारा आस्वादध्उनके सिद्धान्त के मुख्य बिंदु इस प्रकार हैं–

1. रस अनुभूति नहीं है बल्कि अनुभूति का विषय है अर्थात् रस विषयी गत (आत्मगत, व्यक्तिनिष्ठ, Subjective) नहीं है, वह विषय गत (वस्तुगत, objective) है।
2. स्थायी भाव रस नहीं है, किन्तु रस का आधार है। जैसे रति स्थायी भाव अपने मूल रूप में शृंगार रस नहीं है, किन्तु नायक–नायिका प्रसंग को परस्पर देखने, हर्ष, व्याकुलता आदि भावों से जोड़कर आंगिक, वाचिक, सात्विक अभिनय द्वारा जब रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है तो शृंगार रस सामने आता है।
3. यह स्थायी भाव बहुआयामी होता है जो केवल कवि का ही न होकर नायक का भी होता है और लोक सामान्य (प्रेक्षक) का भी।
4. सहृदय रस का आस्वाद हर्षादि रूप में करता है। रस का आस्वाद सुमनस् (संस्कारी), सहृदय करता है। आस्वाद रूप में रस प्रेक्षक की मनोमय प्रक्रिया है।

भरतमुनि के इस सूत्र से दो बातें सामने आयीं– एक तो यह कि रस प्रत्यक्षात्मक है या अनुमित है या शाब्द। दूसरी बात यह कि रस अनुकार्य या अनुकारक में रहता है या फिर सहृदय में। उदाहरणार्थ रंगमंच पर दुष्यंत शकुन्तला का अभिनय करने वाले नर–नारी जब वाचिक, आंगिक, सात्विक अभिनय द्वारा अनुभाव, व्यभिचारी आदि की अभिव्यक्ति करते हुए रति स्थायी भाव को सर्वांगीण रूप में प्रस्तुत करते हैं तो एक रमणीक, भावमूलक स्थिति उत्पन्न होने से

प्रेक्षक के चित्त में हर्ष, कौतुहल आदि जागृत होते हैं। यह रमणीय भावमूलक स्थिति ही भरत के अनुसार रस है। रस की यह परिभाषा विषय गत है। इस परिभाषा के पश्चात् रस का स्वरूप क्रमशः विषयिगत होता गया और वह आस्वाद्य से आस्वाद बन गया।

भरतमुनि के प्रथम व्याख्याकार भट्टलोल्लट ने शकुन्तला विषयक रति से युक्त नट् दुष्यंत में रस बोध प्रत्यक्षात्मक माना और रस ज्ञान के सामने उपस्थित नट में 'लौकिक' और आरोपित दुष्यंत अंश में 'अलौकिक' कहा। रस अनुकार्य में 'मुख्य' और अनुकारक में 'आरोपित' माना।

दूसरे व्याख्याकार शंकुक ने दुष्यंत कृत्ति शकुन्तला विषयक रति का 'नट' में अनुमान करने से अनुकार्य में रहने वाले रस का सामाजिक में अनुमित्यात्मक ज्ञान का होना माना। जबकि भट्टनायक के अनुसार रस सामाजिक में रहता है और आत्मसाक्षात्कार का माध्यम है। सर्वाधिक प्रामाणिक व्याख्या अभिनवगुप्त की है जिन्होंने रस को विषयीगत माना। उनके अनुसार 'रस' का अर्थ है आनन्द और यह आनन्द विषयीगत है। उन्होंने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी से अभिव्यक्त सहृदय में स्थित इत्यादि स्थायी भाव को रस कहा और रस को साक्षात्कार रूप कहा।

रस विषयक विषयगत और विषयीगत मान्यता को केन्द्र में रखकर सम्पूर्ण संस्कृत काव्यशास्त्र में रस सम्प्रदाय का जो विकास हुआ है उसे डॉ0 नगेन्द्र के अनुसार इस रूप में समझा जा सकता है –

1. ध्वनि पूर्ववर्ती काल (ईसा की पहली–दूसरी सदी से आठवीं सदी के अन्त तक का काल जिसमें रूद्रट तक आते हैं)। इस काल को रस विरोधी धारा (भामह, दण्डी, वामन, उद्भट और रूद्रट) तथा रसवादी धारा (लोल्लट, शंकुक, रूद्रभट) में विभाजित किया जा सकता है।
2. ध्वनि काल (नवीं सदी के आरम्भ से ग्यारहवीं सदी के मध्य तक, इसमें आनन्दवर्द्धन से लेकर भोज तक की परम्परा के आचार्य समाहित है)। इस काल को तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं– 1. रसवादी (प्रत्यक्ष रसवादी भट्टनायक, भट्टलोल्लट, अभिनवगुप्त, राजशेखर, धनंजय, धनिक, महिम भट्ट) और (अप्रत्यक्ष रसवादी आनन्दवर्द्धन और क्षेमेन्द्र)। (2) समन्वयवादी (भोज)। (3) स्वतन्त्र (कुन्तक)।
3. ध्वनि परवर्ती काल (ग्यारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर सत्रहवीं सदी के अन्त तक, इसमें मम्मट से लेकर जगन्नाथ तक आचार्य आते हैं) और आधुनिक युग।

क्रमानुसार आचार्य एवं उनके सिद्धान्त निम्नलिखित हैं –

• स्व – मूल्यांकनः क

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यदि आप रिक्त स्थान भरने में असमर्थ हैं तो आपको निराश होने की अवश्यकता नहीं। आप अभी तक के अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

1. विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि के संयोग से .... निष्पत्ति होती है।
2. रस ....नहीं है बल्कि अनुभूति का विषय है।
3. ....भाव रस नहीं है, किन्तु रस का आधार है।
4. सहृदय रस का ....हर्षादि रूप में करता है।
5. रस अनुकार्य या ....में रहता है या फिर सहृदय में।

6. भरतमुनि के प्रथम व्याख्याकार ....हैं।

7. नाट्यशास्त्र के पश्चात् ....का काव्यालंकार 'रस' का विवेचन करता है।

8. भामह अलंकारवादी और दण्डी ....के प्रति उदार है।

9. ....प्रथम अलंकारवादी आचार्य थे।

10. ....ने दण्डी का अनुसरण करते हुए गुणों के आधार पर रीति के सहारे रस चर्चा को आगे बढ़ाया।

5.3.1 ध्वनि पूर्ववर्ती रस विरोधी धारा के आचार्य–

क) भामह – नाट्यशास्त्र के पश्चात् भामह का काव्यालंकार 'रस' का विवेचन करता है। भामह ने स्वतन्त्र रस–विवेचन नहीं किया फिर भी उनकी निश्चित धारणा है कि काव्य को रसयुक्त होना चाहिए। उन्होंने रसवत्ता का कारण शब्दार्थ का चमत्कार माना, जिसे वे काव्यालंकार विवेचन की परंपरानुसार वक्रोक्ति कहते हैं। उनमें रस–निष्पत्ति का युक्तियुक्त समाधान नहीं मिलता किन्तु वे इतना तो जानते थे कि नाटक के समान काव्य में भी अर्थों के विभाजन से रस–निष्पत्ति होती है। हालांकि अर्थ–विभाजन के लिए उन्हें वक्रोक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य शब्द शक्ति का ज्ञान न था इसलिए रस का समावेश अलंकार योजना के अन्तर्गत रसवद् अलंकार के रूप में किया। काव्य के सन्दर्भ में रस–चर्चा करते हुए उन्होंने रस का तीन प्रसंगों में उल्लेख किया – महाकाव्य के प्रसंग में, अलंकारों के प्रसंग में और काव्य–महात्म्य के प्रसंग में।"

ख) दण्डी ने काव्य के सन्दर्भ में रस की चर्चा की। उन्होंने मधुर गुण का सम्बन्ध रस से माना और कहा कि वाक् के साथ वस्तु में भी रस स्थित होता है। सभी अलंकार अर्थ में रस सिंचन करते हैं। भरतमुनि के समान उन्होंने विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी से परिपुष्ट स्थायी भाव को रस कहा। विभावादि सामग्री की प्रचुरता ही स्थायी भावों को रस की कोटि तक पहुंचा देती है। भामह की अपेक्षा दण्डी का रस विवेचन अधिक पुष्ट है। भामह केवल श्रृंगार रस के उदाहरण से रस विषय को स्पष्ट करते हैं जबकि दण्डी ने आठ रसों का वर्णन किया। भामह अलंकारवादी और दण्डी रीति के प्रति उदार है। इस प्रकार दण्डी रस के अधिक निकट अलंकारवादियों के अनुपात में अधिक हैं।

ग) वामन ने दण्डी का अनुसरण करते हुए गुणों के आधार पर रीति के सहारे रस चर्चा को आगे बढ़ाया। उन्होंने भामह और दण्डी के विपरीत रस को अलंकार के क्षेत्र में रखकर सीधे गुणों के आधार पर प्रतिष्ठित किया। उनकी दृष्टि में 'क्रान्ति' नामक गुण में जो दीप्ति होती है उसका सम्बन्ध रस से है। दूसरी ओर उन्होंने श्रृंगार के उदाहरण से अपनी रस दृष्टि की सीमा भी स्पष्ट कर दी। इस दृष्टि से वे दण्डी से आगे नहीं बढ़ पाये बल्कि पीछे रहे।

घ) उद्भट्ट ने रस का वर्णन रसवद् आदि अलंकारों के अन्तर्गत करके भामह का अनुकरण किया, भरत का नहीं। उन्होंने शांत को मिलाकर नौ रसों का वर्णन किया। रस को नाटक में साध्य एवं काव्य में साधन माना। भामह आदि अलंकारवादियों की भांति उन्होंने नाटक का प्राण तत्व रस को कहा किन्तु काव्य में रस की स्थिति के सम्बन्ध में उनकी निश्चित धारणा थी कि वह उक्ति चारूत्व में योगदान करके काव्य का उत्कर्ष करता है। उद्भट्ट की वस्तुवादी दृष्टि ने रस निष्पत्ति का अभिप्राय उत्पत्ति से लिया। हालांकि भामह और वामन की अपेक्षा नाटक से अधिक जुड़ाव के कारण रस के आस्वाद्य रूप से उनका अधिक परिचय था और अनुपात में वे भाव–विभूति को इन आचार्यों की अपेक्षा अधिक महत्व देते थे।

ड़) रूद्रट प्रथम अलंकारवादी आचार्य थे जिन्होंने काव्य के सन्दर्भ में लिखित अलंकार ग्रन्थ के अन्तर्गत स्पष्ट और विस्तृत रस विवेचन किया। उनके रस विवेचन द्वारा शब्दार्थ और रस परस्पर सम्मुख हुए। उन्होंने रस का स्वतन्त्र वर्णन किया रसवद् आदि अलंकार के रूप में नहीं। यद्यपि काव्य भेदों में नाटक की उपेक्षा से उन्होंने भामह का अनुकरण किया है लेकिन रस–प्रसंग में भरत के ऋणी हैं। शब्दार्थ को ही काव्य कहकर उन्होंने अपनी वस्तुवादी दृष्टि का परिचय दिया। वास्तव में वे वस्तुवादी और आत्मवादी मिलान बिन्दु पर अवस्थित हैं।

समग्रतः रस विरोधी या अलंकारवादी आचार्यों ने प्रतिपादित किया है कि अलंकार, गुण, रीति के द्वारा शब्दार्थ में ऐसा सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है जिसकी परिणति अन्ततः रस में होती है। ये आचार्य रस की वस्तुवादी या देहवादी परिभाषा की श्रेणी में खड़े दिखाई देते हैं किन्तु इतना तो स्पष्ट है ही कि परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों के लिए इन्होंने रस विषयक विचारणा की महत्त्वपूर्ण पृष्ठभूमि तैयार की।

5.3.2 ध्वनि पूर्ववर्ती रसवादी धारा के आचार्य–

अ) लोल्लट ने भरत सूत्र की व्याख्या की, साथ ही पहली बार रस के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया और भाव के साथ उसका प्रत्यक्ष एवं घनिष्ठ सम्बन्ध किया। उन्होंने रस को शब्दार्थ का अंग (वस्तुवादी) न मानकर मानव भावों की परिणति (आत्मवादी) रूप मानकर रस सम्प्रदाय के उत्कर्ष में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके अतिरिक्त उन्होंने रस के विषय में दो महत्वपूर्ण उद्घोषणाएं की– नट में भी रस और भावों की अनुभूति सम्भव मानने से नट को भी 'रस' का आस्वादन कर्त्ता माना और मूलतः रस को अनन्त कहा फिर भी आठ रसों को उचित ठहराया।

ब) शंकुक ने रस की दार्शनिक दृष्टि से व्याख्या की। रस को शब्दार्थ धर्म की सीमित दृष्टि से ऊपर उठाकर अनुमान आदि मन की क्रिया के रूप में उपस्थित किया। लोल्लट की भांति शंकुक ने भी रस को नाट्य रस के अर्थ में ग्रहण किया किन्तु लोल्लट अनुकार्य और अनुकारक तक सीमित हैं जबकि शंकुक रस में सहृदय की उपस्थिति मानकर उसे सहृदय तक पहुँचा देते हैं।

स) रूद्रभट्ट का मूल विषय रस ही है। उन्होंने प्रत्यक्षतः रस के प्रति अपना रुझान इस प्रकार व्यक्त किया है – जैसे चन्द्रमा के बिना रात्रि, पति के बिना स्त्री और त्याग के बिना लक्ष्मी हैं, इसी प्रकार रस के बिना कविता शोभायमान नहीं होती।

इस प्रकार जहां एक ओर, अलंकारवादी (रसविरोधी) आचार्य शब्दार्थगत चमत्कार से आलादित थे वहीं दूसरी ओर, रसवादी आचार्य भरतमुनि के सूत्र की व्याख्या और परिष्कार करते हुए रस के भावाश्रित और आस्वाद्य रूप का दार्शनिक एवं आस्वाद रूप में गम्भीर विवेचन किया।

2. ध्वनि काल के प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष रसवादी, समन्वयवादी एवं स्वतन्त्र आचार्यः

ध्यान देने की बात है कि ध्वनि की स्थापना रस से भिन्न रूप में हुई, लेकिन धीरे–धीरे ध्वनि और रस अभिन्न होते गये। इस प्रकार ध्वनि काल वास्तव में रस सिद्धान्त का स्वर्ण युग सिद्ध हुआ।

च) भट्टनायक रस का प्रत्यक्ष समर्थन करने वाले आचार्यों में सर्वप्रथम हैं। उन्होंने बड़े दार्शनिक ढंग से समस्त जगत को एक नाटक माना जिसका रसास्वादन व्यक्ति करता है। उन्होंने काव्य–रस को सर्वांग रसों (पदार्थ, आयुर्वेद, भक्तिरस) से श्रेष्ठ माना। व्यंजना का निराकरण कर रस की मुक्ति को मान्यता प्रदान कर, काव्य में

रस की चर्चा कर काव्यास्वाद की मौलिक समस्या का समाधान किया। अभिनवगुप्त की भांति सामाजिक में रस की अनुभूति को प्रमाणिक मानकर रस के विषयिगत स्वरूप को स्वीकारा। साथ ही काव्यार्थ और प्रमाता के बीच भोज्य–भोजक सम्बन्ध स्वीकार करके लोल्लट के वस्तुनिष्ठ और अभिनवगुप्त के सर्वथा आत्मनिष्ठ रस सिद्धान्त की अतियों से बचते हुए मध्यम मार्ग अपनाया।

छ) **भट्टलोल्लट** रस की स्थिति नट में नहीं मानकर सामाजिक में मानते हैं। नट के अभिनय कौशल से रस सहृदय में प्रतिष्ठित होता है। भट्टलोल्लट की रस सिद्धान्त को सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने कवि दृष्टि से विचार करते हुए रस योजना में कवि के अनुभव को समाकलित किया। इस प्रकार नट और प्रेक्षक के बीच माध्यम रूप में कवि को केन्द्र में रखा और रस के साधारणीकरण की अवधारणा को पूर्णता प्रदान करने की कड़ी में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

ज) **भरतमुनि** बेशक रस के आदिम आचार्य माने जाते हैं किन्तु रस सम्प्रदाय के महत्त्वपूर्ण एवं प्रमुख आचार्य निर्विवाद रूप से अभिनवगुप्त हैं। उन्होंने रस की अनुकार्यगत और नटगत (अभिनेतागत) स्थिति को अमान्य ठहराकर सहृदय को प्रतिष्ठित किया। भरतमुनि के वस्तुपरक एवं आस्वाद्य रूप को आत्मगत और आस्वाद रूप में परिवर्तित किया। रस को अखण्ड एवं अद्वैत मानकर उसके खण्डित स्वरूप को नकारा। भरत के समान उन्होंने इस सिद्धि को विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी से सम्भव माना किन्तु उसका पूर्ण उत्कर्ष रसावयवों के समानुपात एवं समान प्रधानता के द्वारा ही सम्भव मानकर अपनी मौलिकता का परिचय दिया। अभिनव द्वारा प्रस्तुत कविगत रस की व्याख्या अत्यन्त प्रामाणिक है। भरत के 'नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्र......' उदाहरण की शास्त्रीय दृष्टि से विवेचना कर रस परिपाक और रसस्वाद जैसे विषयों पर चिन्तन किया। रस के उत्पाद्य–उत्पादक सम्बन्ध पर भी गहन विचार किया। उन्होंने शांत रस के साथ शृंगार रस की भी विशद विवेचना की।

झ) **राजशेखर** के अनुसार प्रकृति या भौतिक पदार्थ कितने भी रमणीक क्यों न हों, वे काव्य के लिए पर्याप्त नहीं है, उसके लिए रस अनुकूलता अनिवार्य है। धनंजय और धनिक ने रस के साथ काव्य का सम्बन्ध व्यंजक–व्यंग्य का न मानकर भावक–भाव्य का माना। उन्होंने रस को शब्दार्थ का मूल और एकमात्र तात्पर्य घोषित किया। इन दोनों आचार्यों की भांति ध्वनिवाद का खण्डन करते हुए महिमभट्ट ने काव्य की आत्मा रसादि को ही माना। उन्होंने सीधे–सीधे कहा– जहाँ रस है वहाँ काव्य है और जहाँ रस नहीं है, वहाँ काव्य भी नहीं है।

ड़) रस का अप्रत्यक्ष समर्थन करने वालों में आनन्दवर्द्धन और क्षेमेन्द्र मुख्य हैं। आनन्दवर्द्धन ने काव्य को व्यंग्य प्रधान मानते हुए विभिन्न व्यंग्यों में मात्र रसादि को ही स्वीकृत किया। गुण, रीति, अलंकार आदि को रसाश्रित कहा। काव्य के छोटे–छोटे अवयव (वचन, कारक, प्रत्यय आदि) से लेकर प्रबन्ध काव्य तक में रस का प्रकाशन होता है। वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि को रस से जोड़कर अधिक सुन्दर बनाया। काव्य के सभी भेदों (मुक्तक से महाकाव्य तक) में रस प्राणतत्व के रूप में रहता है। क्षेमेन्द्र ने भी रससिद्ध काव्य को ही काव्य पद का अधिकारी माना। काव्य में आस्वादन करने योग्य रस ही होता है लेकिन इतना जरूर है कि औचित्य के द्वारा रस और अधिक आस्वादनीय बन जाता है। उनके लिए रस काव्य का प्रधान तत्व है किन्तु रस का आधार औचित्य है। रस सिद्धान्त भी यह मानता है कि औचित्य के अभाव में रस मात्र रसाभाव बनकर रह जाता है।

य) भोज ने साहित्य के तीन भेद वक्रोक्ति, रसोक्ति, स्वभावोक्ति करते हुए रसोक्ति पर अधिक आग्रह किया। वे भामह और दण्डी के प्रति भी उदार हैं और वामन, आनन्दवर्द्धन से भी प्रभावित रहे। अतः रस का पक्षपात करते हुए भी सैद्धांतिक रूप में समन्वयवादी कहे जा सकते हैं।

र) कुन्तक ने आनन्दवर्द्धन की ध्वनि या क्षेमेन्द्र की औचित्य परम्परा से स्वतन्त्र होकर वक्रोक्ति के संदर्भ में रस विवेचना की। उन्होंने काव्य–लक्षण और प्रयोजन के अन्तर्गत रस का महत्त्व स्वीकारा। उनके अनुसार काव्य का सर्वोत्कृष्ट रूप प्रबन्ध का प्राणतत्व रस है। काव्य वस्तु के सन्दर्भ में भी उन्होंने रस को अधिक महत्त्व दिया। साथ ही काव्य भेद और काव्य मार्ग में भी रस की महत्ता स्वीकार की।

समग्रतः ध्वनि काल में भट्टनायक, भट्टलोल्लट, अभिनवगुप्त, राजशेखर, धनंजय, धनिक और महिमभट्ट ने प्रत्यक्षतः रस सिद्धान्त का विवेचन किया। जबकि आनन्दवर्द्धन ने रस ध्वनि और क्षेमेन्द्र ने रसाश्रित औचित्य द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से रस की प्रतिष्ठा की। भोज का समन्वयवादी दृष्टि कोण ध्वनि को प्रधान रूप से स्वीकार करते हुए अलंकार और रीति के प्रति उदार होते हुए भी रस के प्रति आस्थावान है। एकमात्र कुन्तक ऐसे स्वतन्त्र आचार्य है जिन्होंने वक्रोक्ति सिद्धान्त के रूप में रस से भिन्न, सम्प्रदाय को सामने रखा। हालांकि इनका विरोध ध्वनि के प्रति अधिक है रस के प्रति अपेक्षाकृत उदार रहे हैं।

5.3.3. ध्वनि परवर्ती काल के आचार्य एवं उनके सिद्धान्त–

मम्मट ने रस को प्रयोजन रूप में अनिवार्यतः काव्य मानते हुए भी आत्मतत्व ध्वनि को ही माना। रस का विवेचन स्वतन्त्र काव्यांग रूप में न करके रस ध्वनि रूप में ही किया है। मम्मट के पश्चात् रस विवेचन की दृष्टि से महत्वपूर्ण नाम आचार्य विश्वनाथ का आता है। इन्होंने रस का स्वरूप इस प्रकार व्यक्त किया है – 'सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः. .... रसः।' अर्थात् चित्त में सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में विशिष्ट संस्कारवान् सहृदय जन अखण्ड स्वप्रकाशनन्द, चिन्मय, अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से विनिर्मुक्त, ब्रह्मास्वाद सहोदर, लोकोत्तर चमत्कारप्राण रस का निज स्वरूप से अभिन्न आस्वादन करते हैं। इस प्रकार रस अपने आप में अखण्ड है अर्थात् रस में उत्तम, अति उत्तम, श्रेष्ठ जैसे कोटियां नहीं होती।

- रस को खण्डित करके नहीं देख सकते अर्थात् यह नहीं बता सकते कि यह आलम्बन है, यह आश्रय है, ये भाव हैं या विभाव हैं। तात्पर्य यह है कि अनुभाव, विभाव और संचारी के संयुक्त रूप से ही रस बनता है।
- यह स्वयं प्रदर्शित होता है। यह ज्ञातव्य नहीं है अर्थात् शृंगार रस कहने से ही शृंगार की प्रतीति नहीं होती जब तक कि सहृदय स्वयं काव्य या नाटक को न पढ़े या देखे।
- यह चिन्मय आनन्द रूप है, चेतन आनन्द है। यह, आनन्द, नहीं है अर्थात् यह स्वप्नजन्य आनन्द नहीं है।
- रसास्वाद की स्थिति में अन्य आस्वादनों का ज्ञान नहीं रहता। संवेदनीय पदार्थों का बोध नहीं होता अर्थात् प्रमाता के लिए रसास्वाद की अवस्था तन्मयता की अवस्था है।
- यह ब्रह्मास्वाद का भाई (ब्रह्मास्वादसहोदरः) है। यह निर्विकल्प ज्ञान या समाधि की स्थिति जैसा आनन्द है।
- यह लोकोत्तर होता है अर्थात् रसास्वाद कल्पना का आनन्द है, ऐन्द्रिय आनन्द नहीं।
- यह चमत्कारपूर्ण होता है। गूंगे के गुड़ जैसी आनन्दमयी एवं चमत्कारमयी स्थिति सहृदय की हो जाती है।
- यह अपने स्वरूप (आकार) से अभिन्न होता है।

भरत सूत्र के पश्चात् विश्वनाथ का रस स्वरूप रस सम्प्रदाय की अनमोल निधि है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' पद–समूह उनकी रस के प्रति रूचि को स्पष्ट करता है। पंडितराज जगन्नाथ ने अभिनवगुप्त द्वारा निरूपित चिद्विशेष्ट–भाव के विपरीत भाव विशिष्ट चित् को रस कहा। उन्होंने विशिष्ट अर्थ से सम्पृक्त रमणीयता की अवधारणा से रस चिन्तन

को पुष्ट किया। उनके अनुसार रति आदि भाव विषयक आवरण रहित आत्मचैतन्य ही रस है।

ध्वनि परवर्ती काल में गौण रूप में हेमचन्द्र, विद्याधर, रुय्यक, रामचन्द्र–गुणचन्द्र आदि आचार्यों के नाम गिने जा सकते हैं किन्तु इनका महत्व इस सम्प्रदाय की दृष्टि से नगण्य है। इस युग के विश्वनाथ ही एकमात्र महत्त्वपूर्ण आचार्य स्वीकार किए जा सकते हैं।

• स्व–मूल्यांकन : ख

प्रिय विद्यार्थियों ! आगे बढ़ने से पहले अपने अध्ययन को थोड़ा विश्राम दें और निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा आप स्वयं का मूल्यांकन कर अपने अध्ययन को सार्थक कर सकते हैं।यदि आप बहुविकल्पीय प्रश्नों के उत्तर देने में असमर्थ हैं तो आपको निराश होने की अवश्यकता नहीं। आप अभी तक के अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

1. नट को भी 'रस' का आस्वादन कर्त्ता किसने माना ?

   (क) लोल्लट (ख) शंकुक (ग) अभिनवगुप्त (घ) भट्टनायक

2. रस की दार्शनिक दृष्टि से व्याख्या किसने की ?

   (क) अभिनवगुप्त (ख) शंकुक (ग) लोल्लट (घ) भट्टनायक

3. काव्य–रस को सर्वांग रसों (पदार्थ, आयुर्वेद, भक्तिरस) से श्रेष्ठ किसने माना ?

   (क) अभिनवगुप्त (ख) भट्टनायक (ग) लोल्लट (घ) शंकुक

4. रस की स्थिति नट की अपेक्षा सामाजिक में किसने मानी है ?

   (क) भट्टलोल्लट (ख) शंकुक (ग) अभिनवगुप्त (घ) भट्टनायक

5. रस की अनुकार्यगत और नटगत (अभिनेतागत) स्थिति को अमान्य ठहराकर सहृदय को प्रतिष्ठित किया ?

   (क) शंकुक (ख) भट्टनायक (ग) लोल्लट (घ) अभिनवगुप्त

6. रस के साथ काव्य का सम्बन्ध व्यंजक–व्यंग्य का न मानकर भावक–भाव्य का किसने माना।

   (क) भट्टलोल्लट (ख) धनंजय और धनिक (ग) अभिनवगुप्त (घ) भट्टनायक

7. काव्य के छोटे–छोटे अवयव (वचन, कारक, प्रत्यय आदि) से लेकर प्रबन्ध काव्य तक में रस का प्रकाशन किसने माना है?

   (क) क्षेमेन्द्र (ख) आनन्दवर्द्धन (ग) अभिनवगुप्त (घ) भट्टनायक

8. साहित्य के तीन भेद वक्रोक्ति, रसोक्ति, स्वभावोक्ति करते हुए रसोक्ति पर अधिक आग्रह किसने किया ?

   (क) क्षेमेन्द्र (ख) भोज (ग) अभिनवगुप्त (घ) भट्टनायक

9. किसने आनन्दवर्द्धन की ध्वनि या क्षेमेन्द्र की औचित्य परम्परा से स्वतन्त्र होकर वक्रोक्ति के संदर्भ में रस विवेचना की?

   (क) क्षेमेन्द्र (ख) भोज (ग) अभिनवगुप्त (घ) कुन्तक

10. किसके अनुसार प्रकृति या भौतिक पदार्थ कितने भी रमणीक क्यों न हों, वे काव्य के लिए पर्याप्त नहीं है?

    (क) क्षेमेन्द्र (ख) आनन्दवर्द्धन (ग) राजशेखर (घ) भट्टनायक

5.4 आधुनिक युग में रस चिन्तन–

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रस–मीमांसा' नामक ग्रन्थ से आधुनिक युग (बीसवीं सदी) में रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की। डॉ0 निर्मला जैन ने आचार्य शुक्ल का महत्व रस दृष्टि से स्वीकारते हुए कुछ बातें पूर्ववर्ती रस परम्परा से भिन्न रूप में संकेतित की हैं–

- शुक्ल जी ने भाव की परिभाषा प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवति के गूढ़ संष्लेश के रूप में करके भाव को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया।
- बिम्ब विधान के माध्यम से विभाव पक्ष को व्यापकता प्रदान की।
- रस को मात्र रसास्वाद की सीमा से ऊपर उठाकर कर्त्तव्यनिष्ठा से जोड़ा। उनकी दृष्टि में रस आनन्द है और आनन्द तभी वास्तविक होता है जब वह मनुष्य को कर्म की प्रेरणा दे।
- शुक्ल जी ने साहित्य में व्यक्ति वैचित्र्यवाद का विरोध करके लोक सामान्य नायक का आदर्श स्थापित किया।
- रस की चमत्कारप्रियता एवं अलौकिकता को आध्यात्मिकता से मुक्त करके उसे वैज्ञानिक एवं भौतिक अनिवार्यता से जोड़ा।
- रस के मूल रागात्मक तत्व को प्रधानता देते हुए रस की उत्तम और मध्यम कोटियां मानकर अनुपातिक मूल्यांकन पद्धति को महत्त्व देते हुए रस सिद्धान्त की महत्ता सिद्ध की।
- रस को सुखात्मक और आनन्दकारी मानकर भारतीय काव्यशास्त्र में व्यक्त रस सिद्धान्त के दायित्व को स्वीकार किया।

डॉ0 नगेन्द्र ने अपनी पुस्तक 'रस–मीमांसा' में रस सम्प्रदाय का इतिवृत्त प्रस्तुत करने के क्रम में स्वयं भी रस सम्बन्धी मान्यताएं स्थापित कर दी हैं। जिन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है – उन्होंने आचार्य शुक्ल की भौतिक रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की। लोकमंगल और लोककल्याण को रस का पर्याय माना। डॉ0 नगेन्द्र की रस क्षेत्र मे एक महत्त्वपूर्ण देन यह है कि उन्होंने साधारणीकरण का तर्कसम्मत समाधान प्रस्तुत करते हुए सर्वांग का साधारणीकरण स्वीकार किया। रस का प्रसार प्रबन्ध से लेकर प्रगति तक स्वीकृत किया। साहित्यिक मूल्यांकन हेतु समस्त काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों में उन्होंने रस को सर्वाधिक समर्थ, सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक महत्व का सम्प्रदाय घोषित किया।

• स्व–मूल्यांकन : ग

प्रिय विद्यार्थियों ! निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर अभी तक प्राप्त ज्ञान का स्व–मूल्यांकन करें। यह मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा।

1. मम्मट ने रस का विवेचन स्वतन्त्र काव्यांग रूप में न करके रस ध्वनि रूप में ही किया है। (   )
2. रस को खण्डित करके आचार्य विश्वनाथ देख सकते हैं। (   )
3. रसास्वाद की स्थिति में अन्य आस्वादनों का ज्ञान भी रहता है। (   )

4. रस निर्विकल्प ज्ञान या समाधि की स्थिति जैसा आनन्द है। (   )
5. रसास्वाद कल्पना का आनन्द है, ऐन्द्रिय आनन्द नहीं। (   )
6. विश्वनाथ का 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' पद–समूह उनकी रस के प्रति रूचि को स्पष्ट करता है। (   )
7. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रस–मीमांसा' नामक ग्रन्थ से आधुनिक युग (बीसवीं सदी) में रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की। (   )
8. शुक्ल जी ने साहित्य में व्यक्ति वैचित्र्यवाद का समर्थन करके लोक सामान्य नायक का आदर्श स्थापित किया। (   )
9. आचार्य विश्वनाथ ने अपनी पुस्तक 'रस–मीमांसा' में रस सम्प्रदाय का इतिवृत्त प्रस्तुत करने के क्रम में स्वयं भी रस सम्बन्धी मान्यताएं स्थापित कर दी हैं। (   )
10. डॉ0 नगेन्द्र ने लोकमंगल और लोककल्याण को रस का पर्याय माना। (   )

5.5 सारांश

इस प्रकार अपने प्रारम्भिक चरण में जो रस विषय प्रधान था, वह उत्तरोत्तर विषयी प्रधान होता गया। नाट्य रस से लेकर सहृदय रस और उससे आगे कवि–रस के रूप में उसका विकास हुआ। भौतिक, आध्यात्मिक रस के साथ अन्ततः बौद्धिक रस की अवतारणा हुई। रस महज आनन्द की सीमा से उठकर लोकमंगल और कर्त्तव्य की उच्च आदर्श भूमि पर अधिष्ठित हुआ। आधुनिक युग तक आते–आते वस्तुवादी और आत्मवादी दृष्टि से आगे बढ़कर रस को मनोवैज्ञानिक रूप प्राप्त हुआ। इस पूरे क्रम में भरतमुनि को रस–सूत्र, अभिनवगुप्त द्वारा भरत सूत्र की व्याख्या और आचार्य विश्वनाथ को रस के स्वरूप विवेचन की दृष्टि से विशेष गौरव पद प्रदान किया जाता है। तथापि अन्य आचार्यों का महत्त्व रस सम्प्रदाय की व्याख्या, विवेचन और परिष्कार की दृष्टि से सराहनीय है।

5.6 कठिन शब्द

1. आनन्द– हर्ष, प्रसन्नता
2. गौरव– प्रतिष्ठा, सम्मान
3. परिष्कार – स्वच्छता, निर्मलता
4. प्रेक्षक– दर्शक
5. चिन्तक– ध्यान, स्मरण

5.7. अभ्यासार्थ प्रश्न

प्र. 1 रस सम्प्रदाय पर टिप्पणी लिखें।

प्र 2 रस सम्प्रदाय के विभिन्न आचार्य एवं उनकी स्थापनाओं पर प्रकाश डालें।

प्र. 3 ध्वनि पूर्ववर्ती रस विरोधी धारा के आचार्य के मतों पर चर्चा करें।

प्र. 4 ध्वनि पूर्ववर्ती रसवादी धारा के आचार्य के मतों पर प्रकाश डालें।

प्र. 5 ध्वनि परवर्ती काल के आचार्य एवं उनके सिद्धान्तों कर चर्चा करें।

प्र. 6 आधुनिक युग में रस चिन्तकों के विचारों पर प्रकाश डालें।

5.8. उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन : क 1. रस 2. अनुभूति 3. स्थायी 4. आस्वाद 5. अनुकारक 6. भट्टलोल्लट 7. भामह 8. रीति 9. रूद्रट 10. वामन

स्व–मूल्यांकन : ख 1. लोल्लट 2.शंकुक 3. भट्टनायक 4. भट्टलोल्लट 5. अभिनवगुप्त 6. धनंजय और धनिक 7. आनन्दवर्द्धन 8. भोज 9. कुन्तक 10. राजशेखर

स्व–मूल्यांकन : ग 1. सही 2.गलत 3. गलत 4. सही 5. सही 6. सही 7. सही 8. गलत 9. गलत 10. सही

5.9 पठनीय पुस्तकें

(1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा, हरियाणा ग्रंथ अकादमी पंचकूला, 2013

(2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकशन, वाराणसी, 2023

(3) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय, वाणी प्रकाशन, 2024

(4) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2019

अलंकार सम्प्रदायः आचार्य एवं उनके सिद्धान्त

रूपरेखा

6.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणामः
6.2 प्रस्तावना
6.3 अलंकार सम्प्रदायः आचार्य एवं उनके सिद्धान्त
6.3.1 स्व मूल्यांकनः क
6.4 ध्वनि काल में अलंकार
6.4.1 स्व मूल्यांकनः ख
6.5 सारांश
6.6 कठिन शब्द
6.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
6.8. उत्तर कुंजी
6.9 पठनीय पुस्तकें

6.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय का उद्देश्य आपको अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों एवं उनके सिद्धान्तों से परिचित करवाना है।

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप–

- अलंकार सम्प्रदाय के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों एवं उनके सिद्धान्तों से अवगत हो सकेंगे।
- ध्वनि काल में अलंकार के रूप को जान सकेंगे।

6.2 प्रस्तावना

अलंकार की व्युत्पत्ति दो प्रकार से बतायी गयी है– 'अलंकरोतीत्यलंकारः' तथा 'अलंक्रियतेऽनेन इत्यलंकारः' अर्थात् जो अलंकृत करे उसे अलंकार कहते हैं अथवा जिसके द्वारा अलंकृत किया जाये उसे अलंकार कहते हैं। संस्कृत आचार्यों की दृष्टि में जो तत्व काव्य को लोक और शास्त्र के क्षेत्र से ऊपर उठाकर चमत्कार सम्पादन और रमणीयता के अनुभावन के कारण हों, वे सब अलंकार शब्द से अभिहित किये जाने के अधिकारी हैं चाहे वे लक्षण हों, गुण हों या स्वयं रस ही क्यों न हो।

6.3 अलंकार सम्प्रदाय आचार्य एवं उनके सिद्धान्त

किसी भी काव्यशास्त्रीय तत्व का लक्ष्य ग्रन्थों या लक्षण ग्रन्थों की दृष्टि से महत्व प्रतिपादित करते समय उस

तत्व का मूल स्त्रोत आचार्य भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में ढूंढा जाता है। इस दृष्टि से अलंकार के महत्व का वाचक कोई सूत्र– 'नाट्यशास्त्र' में उपलब्ध नहीं होता। वहाँ तो अलंकारों के स्त्रोत रूप में मात्र चार अलंकार उपमा, रूपक, यमक और दीपक ही प्राप्त होते हैं। इसी के साथ भरतमुनि ने 'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' कहकर रस के महत्व को काव्य में प्रतिपादित किया, अलंकार के महत्व को नहीं। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार के महत्व का श्रीगणेश भरत के युग से नहीं वरन् भामह के युग से हुआ। इसका कारण यह है कि भामह के युग में लक्ष्य ग्रन्थों में अलंकारजन्य सौन्दर्य उपलब्ध होता है। जबकि उससे पूर्व रसपरक सौन्दर्य मूल रूप में नाट्य साहित्य से ही सम्बद्ध था।

1. **भामह** से ही अलंकारों की चर्चा आरम्भ होती है क्योंकि हर्ष, अश्वघोष, कालिदास आदि के ग्रन्थों में उन्होंने पाया कि रसानुभूति तो 10–15 पृष्ठ पढ़ने के बाद होती है किन्तु प्रत्येक श्लोक में चारुत्व एवं चमत्कार दृष्टि गोचर होता है जिसका कारण अलंकार रूप में सामने आया। भामह ने वक्रता की जो बात कही वह वस्तुतः अलंकार की ही बात है। अलंकार काव्य का महत्वपूर्ण तत्त्व है किन्तु उस अलंकार का अलंकार्य रूप वक्रता नहीं है वहाँ अलंकार नहीं हो सकता –

'वक्राभिथेयशब्दोवितरिष्टा वाचामलंकृति'।

अर्थात् शब्द अर्थ की वक्रता या वैचित्र्य को अलंकार कहा जाता है। भामह ने स्वाभाविक सौन्दर्य को नकारते हुए कहा कि काव्य में बिना अलंकार के सौन्दर्य है, वह वस्तुतः सौन्दर्य नहीं है–

'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्'

अर्थात् कोमलागंना नारी का सुन्दर मुख भी अलंकार के बिना सुशोभित नहीं होता। इस प्रकार उन्होंने 'न कान्तमपि निर्भूषं' कहकर अलंकार सापेक्ष और अलंकार निरपेक्ष सौन्दर्य में अन्तर किया और यह सिद्ध किया कि अलंकारहीन साहजिक (नैसर्गिक) सौन्दर्य की गरिमा भी अलंकारजन्य कलात्मक सौन्दर्य पर आधारित है। इस दृष्टि से देखें तो काव्य में इससे अधिक अलंकार का महत्व प्रतिपादित करने वाला कोई दूसरा आचार्य काव्यशास्त्र में नहीं हुआ। इसके साथ ही यह भी स्थापित किया कि सौन्दर्य अथवा चारूत्व ही काव्य का मूल तत्व है, जिसकी प्रसवभूमि केवल अलंकार है। उन्होंने शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों को स्वीकारते हुए रस के व्यापक धर्म को भी अन्ततः अलंकारों के अधीन कहा।

2. **दण्डी** ने 'काव्यशोभाकरान्' सूत्र के द्वारा काव्य में चारूत्व के उत्पादक तत्वों को अलंकार कहा और उसके दो रूप माने–साधारण अलंकार (जिन्हें अलंकार कहा) और असाधारण अलंकार (जिन्हें गुण से अभिहित किया) उनके अनुसार अलंकार काव्य का शोभाकारक धर्म होता है। अलंकार के धर्म से आशय अलंकार के सहज गुणों से है। दण्डी के मतानुसार अलंकार के अभाव में काव्य की स्थिति हो ही नहीं सकती। उन्होंने सन्धि और उसके अंग, वृत्ति और कृत्यांग आदि को भी अलंकारों में समाहित किया। इस प्रकार उन्होंने ऐसे सभी तत्वों को अलंकार का स्थान दे दिया जो काव्य संपादन की दृष्टि से उपादेय हो सकते हैं। उन्होंने अनुप्रास, यमक को असाधारण तथा स्वाभावोक्ति, उपमा को साधारण अलंकार माना। काव्य शोभा के सम्पादक धर्म होने के कारण रस भाव आदि को भी अलंकार रूप मानकर भामह की भांति रसवत् आदि अलंकारों में परिगणित किया।

3. **वामन** ने अलंकार विषयक दो बातें कही– पहली यह कि काव्य अलंकार के कारण ग्राह्य होता है और दूसरी यह कि काव्य के शोभा कारक धर्म गुण होते हैं किन्तु उस शोभा की श्रीवृद्धि अलंकार से होती है। उन्होंने सौन्दर्य को अलंकार कहा 'सौन्दर्यम् अलंकारः' और इस सौन्दर्य के कारण ही काव्य को ग्राह्य कहा। दण्डी ने अलंकार को

सौन्दर्य का पर्याय मानकर उसे भावात्मक रूप में प्रस्तुत किया। उनकी दृष्टि में अलंकार सौन्दर्य भी है। सौन्दर्य को उत्पन्न करने वाला भी है। इस प्रकार वामन ने एक ओर अलंकारों के कारण काव्य की ग्राह्यता सिद्ध की और दूसरी ओर गुणों को काव्य का नित्य धर्म तथा अलंकारों को अन्तिम धर्म स्वीकार किया।

4. उद्‌भट ने भामह के अलंकार चिन्तन को और अधिक सुदृढ़ एवं व्यापक आधार प्रदान किया। उन्होंने रसवत्, प्रेयस्वत्, उर्जस्वी और समाहित अलंकारों में समस्त रसप्रपंच का अन्तर्भाव किया। आक्षेप, समासोक्ति आदि अलंकारों में वस्तु रूप व्यंग्य को वाच्यार्थ का उपकारक मानकर अलंकारों को प्राधान्य दिया। इस प्रकार उन्होंने रस, वस्तु, अलंकार को वाच्यालंकारों में समाहित करके अलंकार का अंगित्व या आत्मत्व सिद्ध किया।

5. कुन्तक ने 'सालंकारस्य काव्यता' कहकर अलंकार को काव्य का अविभाज्य अंग माना। जिस प्रकार शरीर के शोभा –कारक होने के कारण 'कुण्डल' आदि में अलंकार शब्द मुख्यतया प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार काव्य में शोभा जनक होने के कारण उपमा आदि अलंकार शब्द का मुख्य और काव्य शोभा के सम्पादक गुण आदि में तथा गुण, रीति, अलंकार आदि के प्रतिपादक ग्रन्थ में अलंकार का औपचारिक प्रयोग होता है।

6. भोजराज ने 'काव्यशोभा करत्व' को अलंकार का सामान्य लक्षण मानते हुए उस शोभा के अभाव में किसी भी अलंकार का अस्तित्व नहीं माना। उन्होंने वक्रोक्ति, स्वाभावोक्ति और रसोक्ति जैसे तीन वर्गों में अलंकार का वर्गीकरण करके उपमा आदि अलंकारों के प्राधान्य में वक्रोक्ति, गुणप्राधान्य में स्वाभावोक्ति और विभावादि के संयोग से रस–निष्पत्ति में रसोक्ति माना।

अलंकारवादियों की परम्परा में महिमभट्ट, केशवमिश्र, जयदेव और जगन्नाथ प्रभृति नाम लिए जा सकते हैं। महिमभट्ट ने अलंकारों को नये शब्दों में बांधने का प्रयास किया चारूत्वम् अलंकारः तथा 'शब्दार्थयोविच्छत्तिरलंकारः' अर्थात् अलंकार का आशय चारूत्व से है और शब्दार्थ की विच्छति को भी अलंकार कहा जाता है। केशवमिश्र ने पूर्ववर्ती आचार्यों की भांति 'अलंकार शोभा के लिए हैं' कहा। जयदेव ने अलंकारों की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा कि जिस प्रकार अग्नि की स्थिति ऊश्मा के बिना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार अलंकारों के बिना काव्य की स्थिति भी सम्भव नहीं हो सकती। जगन्नाथ के अनुसार अलंकार काव्य की आत्मा व्यंग्यार्थ में रमणीयता उत्पन्न कर देते हैं। अलंकार अप्रत्यक्ष रूप से शब्दार्थ के शोभा कारक बनकर रस का उत्कर्ष करते हैं।

कुल मिलाकर अलंकारवादियों के अनुसार अलंकार के बिना काव्य, काव्य नहीं रहता क्योंकि अलंकार के बिना काव्य में शोभा एवं सौन्दर्य उत्पन्न नहीं हो सकते। वे काव्य से अलग–अलग तत्त्व नहीं हैं। विषय वस्तु और अलंकार दोनों मिलकर काव्य बनता है। भामह ने कमनीय होने पर भी वनिता (स्त्री) के अनलंकृत आनन को असुन्दर कहकर गुण से अधिक अलंकार को महत्व दिया। इनके समय में अलंकार अतिश्योक्ति या वक्रोक्ति रूप था। दण्डी के समय में अलंकार ने शोभा कारक रूप में सन्धि–सन्ध्यंग, वृति–वृत्यंग, लक्षण, गुण, रस आदि सभी शोभा सम्पादक धर्मों को आत्मसात् कर लिया। इस समय तक अलंकार का अंगित्व रूप स्पष्ट हो गया। वामन के 'सौन्दर्यम्लंकारः' में इसकी प्रधानता बनी रही यद्यपि उन्होंने गुण–विशिष्ट पद रचना रूप काव्य की आत्मा में गुण के द्वारा उत्पन्न शोभा के उत्कर्ष क को भी अलंकार मानकर ध्वनिकालीन अंलकार (अंग रूप) का भी संकेत कर दिया। दण्डी का अलंकार शोभा कारक था किन्तु वामन का अलंकार काव्य शोभातिशय का साधक हो गया। इसके पश्चात् ध्वनिकालीन अलंकार काव्य शोभातिशायी रूप में ही मान्य हुआ।

स्व मूल्यांकनः क

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में अभी तक आपने अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों एवं उनके सिद्धान्तों का अध्ययन किया है। निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा आप अपने इस अध्ययन का निरीक्षण कर सकते हैं।

1. किसी भी काव्यशास्त्रीय तत्व का लक्ष्य ग्रन्थों या लक्षण ग्रन्थों की दृष्टि से महत्व प्रतिपादित करते समय उस तत्व का मूल स्त्रोत किसके 'नाट्यशास्त्र' में ढूंढा जाता है?

   (क) आचार्य विश्वनाथ (ख) आचार्य भरतमुनि (ग) आचार्य राजशेखर (घ) आचार्य दण्डी

2. भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार के महत्व का श्रीगणेश किसके युग से हुआ?

   (क) भरत (ख) भामह (ग) आचार्य राजशेखर (घ) आचार्य दण्डी

3. 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्' कथन किसका है?

   (क) भामह (ख) भरत (ग) आचार्य राजशेखर (घ) आचार्य दण्डी

4. 'काव्यशोभा करान्' सूत्र के द्वारा काव्य में चारूत्व के उत्पादक तत्वों को अलंकार किसने कहा?

   (क) भामह (ख) दण्डी (ग) वामन (घ) आचार्य दण्डी

5. किसने अलंकार विषयक दो बातें कही—पहली यह कि काव्य अलंकार के कारण ग्राह्य होता है और दूसरी यह कि काव्य के शोभा कारक धर्म गुण होते हैं।

   (क) भामह (ख) दण्डी (ग) वामन (घ) आचार्य दण्डी

6. किसने रसवत्, प्रेयस्वत्, उर्जस्वी और समाहित अलंकारों में समस्त रसप्रपंच का अन्तर्भाव किया।

   (क) आचार्य दण्डी (ख) आचार्य विश्वनाथ (ग) वामन (घ) उद्भट

7. 'सालंकारस्य काव्यता' कहकर अलंकार को काव्य का अविभाज्य अंग किसने माना?

   (क) कुन्तक (ख) आचार्य विश्वनाथ (ग) वामन (घ) उद्भट

8. किसने 'काव्यशोभा करत्व' को अलंकार का सामान्य लक्षण मानते हुए उस शोभा के अभाव में किसी भी अलंकार का अस्तित्व नहीं माना?

   (क) आचार्य विश्वनाथ (ख) आचार्य भरतमुनि (ग) आचार्य राजशेखर (घ) भोजराज

6.4 ध्वनि काल में अलंकार

ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक आनन्दवर्द्धन तथा उनके अनुयायी अभिनवगुप्त, मम्मट आदि ने ध्वनि को केन्द्र बिन्दु मानकर गुण, रीति, अलंकार आदि का विचार किया। अतः ध्वनि सम्प्रदाय के विचारकों ने अलंकार के पूर्ववर्ती अंगीकृत रूप और असाधारणत्व को अस्वीकृत कर दिया। इन्होंने बाह्य प्रसाधन कुण्डल आदि की तरह शब्दार्थ रूप काव्य—शरीर के शोभातिशायी रूप में अलंकारों को मान्यता दी। पूर्व ध्वनि काल में अलंकार शोभा कारक था, अब वह शोभा वर्द्धक हो गया। रसादि के उत्कर्ष रूप में ही अलंकार का महत्व ध्वनिवादियों ने स्वीकृत किया। बाद में चलकर अलंकारशास्त्र में प्रायः अलंकार का यही रूप मान्य हुआ।

रसवादी आचार्यों की दृष्टि में अलंकार काव्य का अनियत तत्व है। वह शब्द और अर्थ के माध्यम से रस का कहीं उत्कर्ष करता है और कहीं नहीं करता। रसवादी मान्यता अलंकार को उतने ही रूप में काव्य में महत्वपूर्ण मानती है जहां तक वह ध्वन्यार्थ में कोई अन्तराल (बाधा) उत्पन्न न करे। इसीलिए ध्वनिकार अभिनवगुप्त ने कहा–

"रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्य क्रियो भवेत्।
अपृथग्–यत्न निर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः।।"

अर्थात् अलंकार का महत्व रसाक्षेपी होना चाहिए और उसका प्रयोग सहजिक (नैसर्गिक) होना चाहिए, प्रयत्न साध्य नहीं। उनके अनुसार अलंकार विषय वस्तु के अन्दर ही समाहित होते हैं। काव्य में अलंकार महत्वपूर्ण है या गुण। इन तत्वों के विषय में अभिनवगुप्त की मान्यता का उल्लेख उचित है। उन्होंने काव्य में स्वरूपगत सौन्दर्य का सम्बन्ध अलंकार से और संघटनागत सौन्दर्य का सम्बन्ध गुण से माना। संघटना अर्थात् शब्दार्थ (विशेष प्रकार की शब्द योजना) की रचना। यों तो काव्य में प्रत्येक कोटि का सौन्दर्य अलंकार है किन्तु काव्य में विशेष प्रकार का सौन्दर्य जो शब्दगत होता है वही संघटना है।

6.4.1 स्व मूल्यांकनः ख

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय से आपको जो ज्ञान प्राप्त हुआ उसके मूल्यांकन हेतु आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा। यदि आप इन रिक्त स्थानों को भरने में असमर्थ हैं तो यह निराशा का विषय नहीं, आप इस अध्याय का पुनः अध्ययन कर सकते हैं साथ ही उत्तर कुंजी भी देख सकते हैं।

1. ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक ....है।
2. पूर्व ध्वनि काल में अलंकार शोभा कारक था, अब वह ....हो गया।
3. रसादि के उत्कर्ष रूप में ही अलंकार का महत्व ....ने स्वीकृत किया।
4. रसवादी आचार्यों की दृष्टि में अलंकार काव्य का ....तत्व है।
5. अभिनवगुप्त ने काव्य में स्वरूपगत सौन्दर्य का सम्बन्ध अलंकार से और संघटनागत सौन्दर्य का सम्बन्ध ....से माना।

6.5 सारांश

रस सिद्धान्त के आचार्यों के मतानुसार–

क) अलंकार काव्य के धर्म नहीं, शब्द और अर्थ के अस्थायी धर्म हैं।

ख) अलंकार काव्य के प्रधान तत्व रस की वृद्धि करते हैं।

ग) अलंकार काव्य में शोभा उत्पन्न नहीं करते, बल्कि शोभा की वृद्धि करते हैं। इनके अनुसार रस काव्य की वस्तु है।

जबकि अलंकारवादियों के मतानुसार –

अ) अलंकार के बिना काव्य, काव्य नहीं।

ब) अलंकार काव्य में शोभा उत्पन्न करते हैं।

स) अलंकार काव्य से अलग तत्व नहीं है। विषय वस्तु और अलंकार दोनों से मिलकर काव्य बनता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि काव्य और भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार का महत्व भरतमुनि और दृश्यकाव्य की दृष्टि से नहीं, बल्कि श्रव्यकाव्य की दृष्टि से है। श्रव्यकाव्य में रस की अपेक्षा चारुता का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण माना गया है और चारुता के स्त्रोत पर काव्यशास्त्रियों ने विचार किया। चारुता अथवा सौन्दर्य काव्य के सन्दर्भ में व्यापक तत्व है। प्रारम्भ में आचार्यों ने श्रव्यकाव्य में रस की अपेक्षा व्यापक अर्थ रखने वाले सौन्दर्य के क्षेत्र को अधिक व्यापक रूप में स्वीकार किया। अलंकार एवं गुण को इस सौन्दर्य का आधार तत्व माना। इन दोनों तत्वों की स्वीकृति के पीछे काव्य में अलंकरण की भावना ही मुख्यतः कारण मानी गयी क्योंकि कहा गया है कि 'अलंकारः ऐव काव्य प्रधानम्'।

6.6 कठिन शब्द

1) सौन्दर्य– सुंदरता, खूबसूरती,
2) आत्मसात– अपने अधिकार में
3) व्युत्पति– उत्पत्ति
4) अंगीकृत– स्वीकृत, अपनाया
5) श्रव्यकाव्य– जिस रचना का रसास्वादन सुनकर या पढ़कर किया जा सके।

6.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. अलंकार सम्प्रदाय के अन्तर्गत भामह के सिद्धान्तों का परिचय दीजिए।

2. वामन ने अलंकार सम्बन्धी कौन सी दो बातें बतलाई हैं।

6.8. उत्तर कुंजी

6.3.1 स्व–मूल्यांकन : क 1. आचार्य भरतमुनि 2. भामह 3. भामह 4. दण्डी 5. वामन 6 उद्भट 7. कुन्तक 8. भोजराज

6.4.1 स्व–मूल्यांकन : ख 1. आनन्दवर्द्धन 2. शोभा वर्द्धक 3. ध्वनिवादियों 4. अनियत 5. गुण

6.9 पठनीय पुस्तकें

(1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा, हरियाणा ग्रंथ अकादमी पंचकूला, 2013

(2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2023

(3) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय, वाणी प्रकाशन, 2024

(4) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2019

रीति सम्प्रदायः आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ

रूपरेखा
7.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
7.2 प्रस्तावना
7.3 रीति सम्प्रदाय
• स्व मूल्यांकन : क
• स्व मूल्यांकन : ख
7.4 सारांश
7.5 कठिन शब्द
7.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
7.7 उत्तर कुंजी
7.8 पठनीय पुस्तकें

7.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों ! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको रीति सम्प्रदाय के आचार्य एवं उनकी स्थापनओं से परिचित करवाना है।

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

- रीति सम्प्रदाय के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- रीति सम्प्रदाय के विभिन्न आचार्यों एवं उनकी स्थापनाओं से अवगत हो सकेंगे।

7.2 प्रस्तावना

रीति शब्द 'रीङ्' धातु में 'क्तिन्' या 'क्तिच्' प्रत्यय लगाकर बना है। इस प्रकार रीति शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ हुआ–मार्ग। कोशकार ने रीति के पर्याय रूप में पन्थ, वीथि, गति, प्रणाली, पद्धति, प्रस्थान आदि कई शब्द दिये हैं। पाणिनी के अनुसार रीति शब्द गत्यर्थक 'री' और श्रवणार्थक 'रीङ्' धातुओं में 'क्तिन्' अथवा 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न किया जा सकता है। 'री' का अर्थ है– गति करना और 'रीङ्' का अर्थ है – सुनायी देना। अतः इन धातुओं के आधार पर रीति शब्द के क्रमशः दो अर्थ हुए – 'वह जो गतिशील हो' और 'वह जो सुनाई दे'। व्याकरण की दृष्टि से रीति के दो लक्षण हुए– गतिशीलता और श्राव्यता। प्रारम्भ में रीति का प्रयोग इसी अर्थ में होता रहा किन्तु कालान्तर में अर्थ विस्तार की प्रवृत्ति के अनुसार गति या मार्ग से 'काव्य गति' या 'काव्य मार्ग' का वह वाचक बन गया प्रतीत होता है। इसी प्रकार रीति के प्रारम्भिक दो गुण गतिशीलता और श्राव्यता भी 'काव्य मार्ग' के साथ संक्रान्त हो गये तथा सामान्य 'गति' से काव्यगत लय या प्रवाह एवं 'सुश्राव्यता' से रसानुरूप सुमधुर सुश्राव्य वर्ण– योजना में परिवर्तित होते गये लगते हैं। साहित्य के क्षेत्र में रीति का अर्थ कवि अथवा लेखक विशेष की विशिष्ट लेखन–शैली से होता

है। कुल मिलाकर रीति के विशिष्ट अर्थ के अन्तर्गत विशिष्ट पद, रचना, शैली, काव्य परिपाटी तथा साहित्य में किसी विषय का वर्णन करने में वर्णों की वह योजना जिससे ओज, प्रसाद या माधुर्य गुण आता हो– आते हैं।

7.3 रीति सम्प्रदाय

आचार्य वामन द्वारा काव्यात्मा रूप में प्रयुक्त किये जाने से बहुत पहले ही 'विशिष्ट पद 'रचना' रूप में रीति शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हो चुका था। रीति शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में तीन स्थानों पर भिन्न अर्थ में स्तुति, शीघ्रगति, गमयिता (प्रेरक) प्रयुक्त हुआ है। पतंजलि ने महाभाष्य में रीति अर्थ में शैली शब्द का प्रयोग किया।

1. भरतमुनि

भारतीय काव्य शास्त्र के आदि–प्रणेता भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में 'प्रवृत्ति' संज्ञा से रीति का विवेचन किया है। नाना देशों के वेश, भाषा, आचार के समुच्चय को वे प्रवृत्ति कहते हैं। अतः प्रवृत्ति मूलतः भौगोलिक एवं जनपदीय आधारों पर निर्भर करती है। इस जनपदीय आधार पर उन्होंने प्रवृत्ति के चार भेद माने –

"आवन्ती दक्षिणात्य च पांचाली औड्रमागधी।"

आवन्ती अर्थात् पश्चिमी, औड्रमागधी अर्थात् उड़ीसा, मगध एवं पूर्वी भारत की, दक्षिणात्य दक्षिण भारत की और पांचाली अर्थात् मध्यदेशीय। निस्संदेह भरत द्वारा प्रतिपादित प्रवृत्तियों में पूर्ण जीवनचर्चा सिमट आती है। यद्यपि भरत को रीति सम्प्रदाय का प्रवर्तक नहीं कहा जा सकता किन्तु इतना निर्विवाद है कि उन्होंने प्रवृत्ति का प्रतिपादन करके रीति सम्प्रदाय हेतु आधारभूमि तैयार की।

2. बाणभट्ट ने भरत के प्रवृत्ति सम्बन्धी इस विवेचन का संकेत 'हर्षचरित' में लिया–

"श्लेष प्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः।।"

अर्थात् उत्तरी भू–भाग में श्लेष, पश्चिमी भू–भाग में अर्थ गौरव, दक्षिण में उत्प्रेक्षा और गौड़ (पूर्वी) प्रदेश में अक्षर आडम्बर की प्रधानता है। किन्तु बाणभट्ट ने इन शैलियों की ऐकान्तिक साधना को प्रश्रय नहीं दिया। उनके अनुसार नवीन अर्थ, अग्राम्य स्वाभावोक्ति, अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रस, विकट अक्षरबन्ध आदि का एकत्र होना दुर्लभ अवश्य है, किन्तु प्रतिभा का धनी कवि इसे साध सकता है। बाणभट्ट की काव्य शैलियाँ रीति की आधुनिक अवधारणा के और अधिक निकट आ गयीं।

3. भामह ने रीति के स्थान पर 'काव्य' या 'काव्य भेद' का प्रयोग किया। उन्होंने सर्वप्रथम वैदर्भी और गौड़ीय दो काव्य–शैलियों का प्रयोग रीतियों के रूप में किया। भामह का गौड़ मार्ग बाण की गौड़ीय शैली है और वैदर्भ मार्ग बाण की दक्षिणात्य शैली का ही दूसरा नाम है। भामह के अनुसार इन दोनों को अलग–अलग नहीं माना जाना चाहिए। दोनों मार्गों की विवेकसम्मत साधना उन्हें इष्ट है। उन्होंने काव्य के सामान्य गुणों–अलंकृति, अग्राम्यता, अर्थ सौन्दर्य, लोकशास्त्र का आनुकूल्य, अनानुकूलता अर्थात् जटिलता के अभाव से युक्त काव्य को उत्कृष्ट कोटि का काव्य कहा। इस प्रकार उन्होंने रीतियों के विवेचन में उनकी प्रादेशिकता की स्थिति समाप्त की और उनकी रूढ़ वस्तुपरकता को समाप्त किया।

4. दण्डी ने भामह की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और पूरक विवेचन किया किन्तु मौलिक दृष्टि तो भामह की ही थी। दण्डी ने रीति रूप में 'वाणी' के अनेक रूप माने। इन सबमें से वैदर्भ और गौड़मार्ग को ही प्रशस्त मानते हैं। इसमें भी वैदर्भ मार्ग को अधिक उत्तम मानकर दस गुणों को इससे निबद्ध कर रीति को उसका प्राण माना। ये दस गुण हैं

– श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि। इनमें भी तीन गुणों अर्थव्यक्ति (प्रस्फुटन शक्ति), औदार्य (उत्कर्ष) और समाधि अर्थात् एक वस्तु के धर्म का दूसरी वस्तु में सम्यक् रीति से आधान करने को काव्य के लिए अनिवार्य माना। एक ओर, भामह ने जहां रीति को व्यापक संदर्भ (अलंकार, गुण–दोषादि रूप) में ग्रहण किया दूसरी ओर, दण्डी ने उसे केवल वैदर्भ तक सीमित कर दिया।

5. **वामन** ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में ग्रहण किया। वे अकेले आचार्य हुए जिन्होंने रीति को आत्म–स्थानीय माना। वामन से पूर्व रीति की चर्चा बेशक हुई किन्तु कोई परिभाषा या लक्षण इसे लेकर निर्धारित नहीं हुए थे। इस क्षेत्र में पहल वामन ने की। उन्होंने रीति को पारिभाषित करते हुए कहा – 'विशिष्टा पद रचना रीतिः'। अर्थात् विशिष्ट प्रकार की पदरचना को रीति कहते हैं। उन्होंने 'विशिष्ट' का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा – 'विशेषो गुणात्मक' अर्थात् विशिष्ट का आशय गुणों से युक्त है। गुणों की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा कि गुण शब्द और अर्थ के काव्य शोभाकारक धर्म होते हैं। इस प्रकार वामन की परिभाषा के अनुसार दो बातें सामने आयीं – एक तो यह कि रीति विशिष्ट पदरचना होती है और दूसरे वह शब्दगत और अर्थगत चमत्कार से युक्त होती है। अर्थात् 'शब्दगत और अर्थगत' चमत्कार से युक्त विशिष्ट पदरचना रीति होती है।

वामन ने गुणों को शब्दगुण और अर्थ गुण में बांटते हुए अर्थगुणों को शब्दगुणों की तुलना में श्रेष्ठ सिद्ध किया। उनके अर्थगुणों में रस, अलंकार आदि काव्य तत्व भी समाविष्ट हो जाते हैं। उनका महत्व इस संदर्भ में भी है कि उन्होंने 'रीति' शब्द को भौगोलिक ओर प्रादेशिक सीमाओं से मुक्त कर दिया। रीतियों का विभावन गुणों के आधार पर किया। पूर्व परंपरा से चली आ रही वैदर्भ और गौड़ के साथ तीसरी रीति पांचाली को जोड़ा। इनको स्पष्ट करते हुए विवेचना करते हैं कि गौड़ीय रीति केवल ओज और कान्ति गुणों से युक्त, समासों से युक्त उद्भट पदावली होती है। जबकि वैदर्भी रीति समस्त गुणों से युक्त होने के कारण सर्वश्रेष्ठ होती है। पांचाली अश्लिष्ट और शिथिल पदरचना होने के साथ–साथ माधुर्य और सौकुमार्य केवल इन्हीं दो गुणों से युक्त होती है।

6. **रुद्रट ने** 'लाटीया' नामक एक और रीति जोड़कर रीति संख्या चार तक पहुंचा दी। वैदर्भी और पांचाली को वे श्रृंगार, करुण, भयानक और अद्भुत रस में तथा लाटीया और गौड़ी को रौद्र रस में उचित मानते हैं।

7. **आनन्दवर्द्धन** ने रीति के लिए 'संघटना' शब्द प्रयुक्त किया। उनके अनुसार संघटना रसाश्रयी होती है इसलिए रीति या संघटना रसपूर्ण सौन्दर्य का साधन होती है। संघटना उनकी दृष्टि सम्यक् या यथोचित घटना–पदरचना संघटना या रीति है। यह संघटना तीन प्रकार की होती है –

"असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता,
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता।।"

अर्थात् संघटना तीन प्रकार की असमासा, मध्यसमासा और दीर्घसमासा होती है। आनन्दवर्द्धन की ये संघटनायें वामन की क्रमशः वैदर्भी, पांचाली और गौड़ीय रीतियाँ ही हैं। आनन्दवर्द्धन ने रीति–रूप संघटना को अंग संस्थानवत् ही माना है, आत्म–स्थानीय नहीं। उन्होंने यह भी कहा कि संघटना माधुर्य आदि गुणों के कारण विद्यमान रसों को अभिव्यक्त करती है। इस प्रकार संघटना के सम्बन्ध में तीन महत्त्वपूर्ण बातें देखी जा सकती हैं – एक, संघटना का मूलाधार समास होते हैं अर्थात् रीति का स्वरूप समासों के आकार और स्थिति पर निर्भर करता है। दो, रीति या संघटना गुणाश्रयी होती है। तीन, संघटना रस की अभिव्यक्ति का एक माध्यम होती है।

8. **राजशेखर** ने 'काव्य मीसांसा' में रीति, प्रवृत्ति एवं वृत्ति–तीनों का अर्थ स्पष्ट किया। 'वेष विन्यास क्रमः प्रवृतिः, विलास विन्यास क्रमो वृत्तिः, वचन विन्यास क्रमो रीतिः।' अर्थात् वेश–विन्यास को प्रवृत्ति, विलास–विन्यास को वृत्ति

और वचन–विन्यास को रीति कहते हैं। राजशेखर की रीति विषयक यह परिभाषा वामन से भिन्न नहीं है, केवल शब्दों का अन्तर है। उनके द्वारा प्रयुक्त वचन का आशय वामन के शब्द या पद से और विन्यास–क्रम का अर्थ रचना है। उन्होंने रीति का वर्णन काव्यपुरुष के रूपक के प्रसंग में किया है और इसीलिए उन्होंने नयी शब्दावली यथा वचन, विन्यास क्रम का प्रयोग किया है।

9. **भोज** ने रीति की व्युत्पत्तिमूलक परिभाषा दी –

"वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीङ् गताविति धातोस्सा व्युत्पत्या रीतिरुच्यते।।"

अर्थात् वैदर्भ आदि पथ काव्य में मार्ग कहलाते हैं। रीङ् एक गत्यार्थक धातु है, इससे व्युत्पन्न होने के कारण वही रीति कहलाती है। भोज ने दो रीतियाँ – आवन्तिका एवं मागधी जोड़ी। वैदर्भी और पांचाली के बीच की रीति का नाम आवन्तिका है। मागधी को वे खण्ड रीति कहते हैं अर्थात् रीति के लक्षणों का अनिर्वाह होने पर वह खण्ड रीति (मागधी) कहलाती है।

10. कुन्तक ने रीति के लिए 'कवि–प्रस्थान–हेतु' शब्द का प्रयोग किया। गुणों के अतिरिक्त वे किसी अन्य तत्व को रीतियों की पारस्परिक उच्चावचता का निर्णायक आधार नहीं मानते। अतः उन्होंने रीति के भौगोलिक नामों का तिरस्कार कर 'सुकुमार मार्ग', 'विचित्र मार्ग', 'मध्यम मार्ग' नाम स्वीकार किये। ये तीनों मार्ग वस्तुतः कवि–स्वभाव के तीन पक्ष हैं जिन्हें उन्होंने पारिभाषिक शब्दावली में बांधने का प्रयत्न किया। इन तीनो।मार्गों की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि सुकुमार मार्ग में भावों और रसों का एक नैसर्गिक सम्बन्ध बना रहता है जबकि विचित्र मार्ग में भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष की अधिक महत्ता रहती है और मध्यम मार्ग में इन दोनों मार्गों का एक मिश्रित रूप होता है। इस प्रकार कुन्तक ने एक ओर जहां कवि स्वभाव को रीति का आधार निर्धारित करके उसे सीमित किया वहीं दूसरी ओर अपनी मौलिकता का परिचय दिया।

11. मम्मट ने रीति शब्द का प्रयोग न करके 'वृत्ति' का प्रयोग किया। वृत्ति की परिभाषा देते हुए कहा –

"वृत्तिर्नियत वर्णगतो रस विषयो व्यापारः।"

अर्थात् रसानुकूल वर्ण–योजना ही वृत्ति है। उन्होंने उपनागरिका, परुषा, कोमला तीन वृत्तियां कहीं जो क्रमशः वामन निर्दिष्ट वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीतियाँ ही हैं। उन्होंने स्वयं कहा – "एतास्तिस्त्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भी, गौड़ी, पांचल्याख्या रीतयोमताः।" तथापि मम्मट ने वर्ण–व्यापार और गुणों के बीच अनिवार्य सम्बन्ध की स्थिति स्वीकार की है। इस सम्बन्ध में उन्होंने दो बातें कही – वृति नियत वर्ण–व्यापार होती है और वर्ण–व्यापार के साथ गुण का अनिवार्य सम्बन्ध होता है। इस प्रकार वर्ण–व्यापार प्रत्येक गुण के अनुरूप होता है और उसी गुण से रीति अथवा वृत्ति का स्वरूप निर्धारित होता है। मम्मट के अनुसार वर्ण–व्यापार और वृत्ति या रीति दोनों का विनियमन गुणों द्वारा होता है और गुणों के माध्यम से ही रीति रसोत्कर्ष में सहायक होती है।

12. विश्वनाथ रीति को पद–संघटना मानते हैं और उसे अंग–संस्थानवत् महत्व देते हैं। उनके अनुसार रीति रसादि की अभिव्यक्ति में साधन रूप है। उन्होंने रीति को शरीर की रचना के समान कहा अर्थात् जिस प्रकार शरीर का गठन अपनी प्रवृत्ति में बाह्य होते हुए भी आत्मा का उत्कर्ष करता है, उसी प्रकार रीति भी पदसंघटना रूप में काव्य का बाह्य तत्व होते हुए भी काव्य की आत्मा अर्थात् रस भावादि का उत्कर्षवर्द्धन करती है।

रुद्रट की भाँति विश्वनाथ ने रीति (पद संघटना) के चार भेद माने– वैदर्भी, गौड़ीय, पांचली और लाटीया।

• **स्व मूल्यांकन :**

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में आपने रीति सम्प्रदाय के आचार्य एवं उनकी स्थापनओं का अध्ययन किया है। अब आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरकर एवं प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर इस प्राप्त ज्ञान का मूल्यांकन करें। यदि आप इस मूल्यांकन में असमर्थ हैं तो आपको निराश होने की आवश्यकता नहीं। आप इस अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

स्व मूल्यांकनः क–रिक्त स्थान

1) ––––––––––––––––––––––––ने रीति के लिए 'संघटना' शब्द प्रयुक्त किया।
2) ––––––––––––––ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में ग्रहण किया।
3) कुन्तक ने रीति के लिए –––––––––––––––––––––– शब्द का प्रयोग किया।
4) मम्मट ने रीति शब्द का प्रयोग न करके –––––––––––– का प्रयोग किया।
5) –––––––––––––––––––रीति को पद–संघटना मानते हैं।

स्व मूल्यांकनः ख – सही या गलत

1) विश्वनाथ के अनुसार रीति रसादि की अभिव्यक्ति के साधन रूप में नहीं है। (   )
2) रूद्रट की भांति विश्वनाथ ने रीति (पद संघटना) के चार भेद माने–वैदर्भी, गौड़ीय, पांचाली और लाटीया। (   )
3) राजशेखर ने 'काव्य मीमांसा' में रीति, प्रकृत्ति एवं वृति तीनों का अर्थ स्पष्ट किया। (   )
4) वामन ने रीति को परिभाषित करते हुए कहा– 'विशिष्ट पद रचना रीति'। (   )
5) भोजराज ने तीन रीतियाँ मानी हैं। (   )

7.4 सारांश

रीति सम्प्रदाय के विवेचन से स्पष्ट है कि –

- अधिकांश आचार्यों ने रीति को काव्यांश माना तथा उसे रसादि का उपकारक कहा।
- वामन रीति को काव्यांश न मानकर काव्यात्मा कहते हैं।
- कहीं–कहीं रीति को पद–रचना का वैशिष्टय न मानकर वाग्वैदग्ध का एक रूप माना गया है।
- प्रारम्भ में रीति शब्द काव्य–सौन्दर्य के पर्याय रूप में गृहीत हुआ फिर संकुचित होते–होते पद वैशिष्टय तक सीमित हो गया और पुनः व्यापक अर्थ में (शैली रूप में) समस्त काव्यांग या काव्यशास्त्र का वाचक बनता जा रहा है।

आज तो रीति के अन्तर्गत वृत्ति, प्रवृत्ति से आगे बढ़कर शैली की चर्चा होने लगी है अर्थात् शैली ही काव्य है। इस प्रकार रीति ही काव्यात्मन है। कुल मिलाकर वामन की विशिष्ट पद रचना ही रीति की सर्व स्वीकृत परिभाषा रही।

7.5 कठिन शब्द

1) प्रवृति– स्वभाव, झुकाव
2) विशिष्ट– विशेषतायुक्त, अद्‌भुत
3) स्वीकृत– माना हुआ, स्वीकार किया हुआ
4) अन्तर्गत– सम्मिलित, शामिल
5) पास्परिक – आपस का, आपसी

7.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. रीति सम्प्रदाय में भामह, भरतमुनि की स्थापनाओं पर प्रकाश डालिए।

2. बाणभट्ट, दण्डी की रीति सम्प्रदाय की स्थापनाओं को विवेचित कीजिए।

3. रीति सम्प्रदाय से सम्बन्धित विभिन्न आचार्यों की स्थापनाओं पर प्रकाश डालिए।

7.7 उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन : क

1. आनन्दवर्द्धन 2. वामन 3. 'कवि–प्रस्थान हेतु' 4. 'वृति' 5. विश्वनाथ

स्व–मूल्यांकन : ख

1.गलत 2.सही 3. सही 4. सही 5. गलत

7.8 पठनीय पुस्तकें

(1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा, हरियाणा ग्रंथ अकादमी पंचकूला, 2013

(2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकशन, वाराणसी, 2023

(3) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय, वाणी प्रकाशन, 2024

(4) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2019

ध्वनि सम्प्रदायः आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ

रूपरेखा

8.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
8.2 प्रस्तावना
8.3 ध्वनि सम्प्रदाय
8.4 स्व–मूल्यांकन
8.5 सारांश
8.6 कठिन शब्द
8.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
8.8 उत्तर कुंजी
8.9 पठनीय पुस्तकें

8.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों ! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्य एवं उनकी स्थापनओं से परिचित करवाना है।

प्रस्तुत अध्याय के अध्ययनोपरान्त आप–

– ध्वनि सम्प्रदाय के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

– ध्वनि सम्प्रदाय के विभिन्न आचार्यों एवं उनकी स्थापनाओं से अवगत हो सकेंगे।

8.2 प्रस्तावना

आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त के मत में काव्य के आत्मा रूप ध्वनि का अति प्राचीन काल में भी व्यवहार मिलता है। आनन्दवर्द्धन के अनुसार भरतमुनि ने रसादि तात्पर्य से इस ध्वन्यमान अर्थ का प्रतिपादन किया है। अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाले इस ध्वनि रूप काव्य तत्व की व्याख्या करने में असमर्थ वामन आदि आचार्यों ने रीतियाँ प्रचलित की हैं। काव्य में अलंकार को ही अंगी मानने वाले भामह आदि आचार्यों ने ध्वन्यमान अर्थ के वर्णन में असमर्थ होकर ही पर्यायोक्त, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकारों में उसका अन्तर्भाव किया है तथा रसादि अर्थों को रसवत्, प्रेय, उर्जस्वी आदि अलंकारों में जोड़ा है। इस ध्वन्यमान अर्थ का अन्तर्भाव अलंकार आदि में किसी प्रकार नहीं हो सकता इसीलिए इस अर्थ का स्वतन्त्र अस्तित्व मानना अनिवार्य और समुचित है। इतना ही नहीं वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि महाकवियों ने अपनी रचनाओं में काव्य के सारभूत अतिरमणीय ध्वन्यार्थ का यत्र–तत्र निदर्शन किया है।

8.3 ध्वनि सम्प्रदाय

'ध्वन् शब्दे' धातु से कर्त्ता, कर्म, करण या अधिकरण में 'इ' प्रत्यय करने से निष्पन्न ध्वनि शब्द संस्कृत वाङ्मय

में अति प्राचीन काल से प्रयुक्त होता रहा है। अथर्ववेद में ध्वनि शब्द लोक में प्रचलित ध्वनि शब्द के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। पतंजलि ने ध्वनि को शब्द कहा। वैयाकरणों ने अर्थ प्रकाशक स्फोट को व्यंग्य माना और उस व्यंग्य स्फोट को व्यंजक शब्द को ध्वनि कहा है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से ध्वनि के दो अर्थ होते हैं – एक, जिससे अर्थ स्फुटित होता हो तथा दो, जो वर्णों द्वारा प्रतिभासित होता हो। ध्वनिशास्त्र में ध्वनि के तीन प्रकार से अर्थ किये जाते हैं – पहला, 'ध्वनतीति ध्वनिः' अर्थात् जो व्यंग्यार्थ को प्रकाशित करे। दूसरा, 'ध्वन्यते इति ध्वनिः' अर्थात् व्यंजित होने वाला अर्थ। तीसरा, 'ध्वननम् इति ध्वनिः' अर्थात् शब्द और अर्थ का वह व्यापार जिससे व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती हो। इस प्रकार ध्वनि के पांच अर्थ किये जा सकते हैं – व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ, व्यंजना व्यापार, व्यंग्यार्थ और व्यंग्य प्रधान काव्य। ध्वनि शब्द अपने आप में बहुत व्यापक अवधारणा है। 'ध्वनतीति ध्वनिः' के अन्तर्गत शब्द और अर्थ दोनों आ जाते हैं। 'ध्वन्यते इति ध्वनिः' के अन्तर्गत रस और 'ध्वननम् ध्वनिः' में समूची व्यंजक प्रक्रिया आ जाती है। ध्वनि का पांचवां अर्थ इन सभी तत्वों का समूह अर्थात् काव्य है। इस प्रकार ध्वनि के अन्तर्गत उपर्युक्त सभी तत्त्व आ जाते हैं। ध्वनि के इस स्वरूप को इस प्रकार समझा जा सकता है –

क. जो ध्वनि करे अथवा कराये वह व्यंजक शब्द ध्वनि कहलाता है।

ख. शब्द की भांति उसका अर्थ भी व्यंजक होता है। इसलिए व्यंजक अर्थ को ध्वनि कहा जाता है। ये दोनों कर्तृ प्रधान व्युत्पत्तियां हैं।

ग. जो ध्वन्ति किया जाये वह भी ध्वनि है। ध्वनि की इस व्युत्पत्ति से त्रिविध अर्थात् (रस, अलंकार, वस्तु) व्यंग्यार्थ को भी ध्वनि माना जाता है। यह कर्म प्रधान व्युत्पत्ति है।

घ. शब्द की जिस शक्ति के द्वारा व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है उस शब्द–शक्ति को भी ध्वनि कहते हैं। ध्वनि की इस व्युत्पत्ति के आधर पर व्यंजना शक्ति भी ध्वनि कहलाती है। यह करण प्रधान व्युत्पत्ति है।

ङ़. वह काव्य भी ध्वनि कहलाता है जिसमें व्यंग्यार्थ प्रधान और चमत्कार युक्त होता है। यह अधिकरण प्रधान व्युत्पत्ति है।

इस प्रकार व्यंजक शब्द और अर्थ, व्यंग्यार्थ, व्यंग्य अर्थ को प्रकट करने वाली व्यंजना शक्ति एवं चमत्कार युक्त और प्रधान व्यंग्यार्थ युक्त काव्य को ध्वनि नाम से पुकारा जाता है। ध्वनि शब्द के ये पांचों व्याकरणिक अर्थ बाह्य रूप में भिन्न और अलग लगते हैं किन्तु व्यावहारिक रूप में एक–दूसरे से इतने सम्बद्ध हैं कि एक का उल्लेख करते समय दूसरे का अर्थ स्वतः ही ग्रहण हो जाता है। इसीलिए ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि सिद्धान्त के निरूपण में मुख्यतया ध्वनि की तीन व्युत्पत्तियों को ग्रहण किया है – व्यंग्यार्थ का बोध कराने वाली व्यंजना शक्ति, व्यंग्यार्थ और ध्वनि काव्य।

ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आनन्दवर्द्धन से पूर्व केवल भरतमुनि रसवादी आचार्य माने जाते हैं। शेष आचार्यों में से भामह, दण्डी और उद्भट अलंकारवादी थे और वामन रीतिवादी। जबकि रुद्रट आनन्दवर्द्धन से पूर्ववर्ती और आनन्दवर्द्धन के बीच एक योजक श्रृंखला के रूप में विद्यमान थे। काव्य के बाह्य रूप तक सीमित रस, भाव, अलंकार आदि की त्रुटियों को पहचानते हुए आनन्दवर्धन ने ध्वनि के स्वरूप को स्पष्ट किया।

8.3.1 आनन्दवर्धन की ध्वनि विषयक मान्यता

आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए दो उदाहरण प्रस्तुत किये – 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव. .... प्रतिमाभाविशेषम्।' अर्थात् प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही वस्तु होती है जो सुन्दरियों के प्रसिद्ध शरीरांगों से भिन्न उनके लावण्य की तरह महाकवियों की वाणी में प्रतिभासित होती है। जिस प्रकार किसी कोमलांगना के सुन्दर अवयव

और उनसे फूटता हुआ लावण्य एक पदार्थ नहीं है और जिस प्रकार दीप एवं उससे निस्सृत प्रकाश भी एक पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार शब्द तथा अर्थ और उनसे अभिव्यक्त ध्वनि (व्यंग्यार्थ) भी एक पदार्थ नहीं है। शब्द तथा अर्थ काव्य के बाह्य उपकरण मात्र हैं किन्तु ध्वनि तो अन्य अवर्णनीय पदार्थ है। अभिप्राय यह है कि–

"आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वद् अर्थे वाच्ये तदादृतः।।"

अर्थात् जिस प्रकार दीप और प्रकाश में परस्पर साधन–साध्य भाव है, उसी प्रकार शब्दार्थ और ध्वनि में भी साधन–साध्य भाव है। यही कारण है कि कवि को शब्दार्थ रूप साधन की भी अपेक्षा होती है किन्तु ध्यान देने की बात है कि अवयव समुदाय अथवा दीप को अपने साध्य की सिद्धि के लिये गौण नहीं बनना पड़ता, किन्तु ध्वनि की अभिव्यक्ति तभी सम्भव है जब शब्द अपने अर्थ को तथा अर्थ अपने आप को गौण बना दे। स्वयं आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि का लक्षण इस प्रकार बताया –

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जजीकृतस्वार्थो।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरितिसूरिभिः कथितः।।"

अर्थात् यहां वाच्य (अर्थ) और वाचक (शब्द) अपने अस्तित्व को गौण बनाकर जिस विशिष्ट अर्थ (व्यंग्यार्थ) को प्रकट करते हैं वह अर्थ ध्वनि कहलाता है। इस प्रकार आनन्दवर्द्धन ने प्रतीयमान अर्थ अथवा व्यंग्यार्थ को ध्वनि माना है। प्रतीयमान अर्थ का स्वरूप निर्धारण करते हुए वे कहते हैं– (क) व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण (ख) स्वादु, (ग) चर्वणीय और (घ) प्रकाशमान होता है। आनन्दवर्द्धन के इस ध्वनि विश्लेषण से कुछ बातें सामने आती हैं –

1. ध्वनि (व्यंग्यार्थ) शब्दार्थ से विभिन्न तत्व है।
2. ध्वनि लावण्य आदि के समान आन्तरिक तत्व है।
3. शब्दार्थ आधार एवं साधन है जबकि ध्वनि आधेय एवं साध्य है। जिस प्रकार लावण्य हेतु कोमलांगना के अंगों की, प्रकाश हेतु दीपशिखा की जरूरत होती है उसी प्रकार ध्वनि के लिये शब्दार्थ (वाचक एवं वाच्य के समन्वित रूप) की अपेक्षा होती है।
4. कुल मिलाकर वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ (विशिष्ट अर्थ) व्यंग्यार्थ या ध्वनि कहलाता है। इसके पर्याय रूप ध्वन्यार्थ, व्यंग्य, व्यंग्यार्थ, व्यंजित अर्थ, प्रतीत अर्थ, प्रतीयमान अर्थ, अवगमित अर्थ आदि हैं।
5. इसी ध्वनि को आनन्द के साथ मम्मट, जगन्नाथ आदि ने काव्य की आत्मा स्वीकारा है।

8.3.2 आनन्दवर्धन पूर्ववर्ती आचार्य –

आनन्दवर्द्धन से पूर्व ध्वनि सम्बन्धी परिकल्पना वस्तुतः ध्वनि विरोधी रूप में मुखरित हुई। ध्वनि विरोधी इस परिकल्पनाओं को विभिन्न वादों यथा अभाववाद, लक्षणावाद, अलक्षणीयतावाद नाम से जाना जाता है। इन वादों का महत्व इस रूप में है कि आनन्दवर्द्धन ने प्रति उत्तर के माध्यम से इन वादों का विरोध करते हुए अन्ततः ध्वनि सिद्धान्त को अधिक परिपुष्ट किया।

8.3.3 अभाववाद और सम्बन्धित आचार्य –

भामह, दण्डी और उद्भट प्रभृति अलंकारवादी आचार्य ध्वनि की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि अलंकार रीति, गुण आदि काव्य तत्वों की स्वीकृति में ध्वनि को मानना व्यर्थ है। अलंकार नामक तत्व की स्वीकृति

किये जाने पर ध्वनि नामक तत्व की आवश्यकता ही नहीं हैं। उदाहरणार्थ भामह ने प्रतिवस्तूपमा अलंकार के लक्षण में 'गुणसाम्य प्रतीति' अर्थात् गम्यमान औपम्य की चर्चा की। विशेषण–साम्य के बल पर अन्य अर्थ की गम्यता को उन्होंने समासोक्ति कहा तथा अन्य प्रकार के कथन विशेष को पर्यायोक्त कहा। इसी प्रकार दण्डी ने व्यतिरेक अलंकार का एक रूप माना जिसमें सादृश्य प्रतीयमान होता है और पर्यायोक्त के स्वरूप को प्रकारान्तर कथन पर आधृत माना। उद्भट पर्यायोक्त उसे कहते हैं जहां अभीष्ट विषय का अन्य प्रकार से कथन किया जाये। यह अन्य प्रकार वाच्य–वाचक वृत्ति अर्थात् अमिधा वृत्ति से शून्य अर्थ का अवगमन है। इसी प्रकार रुद्रट के रूपक, अपह्नुति, तुल्ययोगिता, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के लक्षणों में व्यंजना के बीज निहित हैं। उनके भाव अलंकार का एक प्रकार 'प्रधान व्यंग्य' है और दूसरा प्रकार 'अप्रधान व्यंग्य।' इस प्रकार अभाववादियों ने ध्वनि को अलंकारों में अन्तर्भूत करने का प्रयास किया किन्तु आनन्दवर्धन ने इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण बातें कहीं –

क. अलंकार और ध्वनि में बहुत बड़ा अन्तर है। अलंकार शब्दार्थ पर आश्रित है किन्तु ध्वनि व्यंग्य– व्यंजक भाव पर निर्भर करती है। शब्दार्थ के चारूत्व हेतु अलंकार ध्वनि के अंगभूत है और ध्वनि उनका अंगी है।

ख. समासोक्ति, आक्षेप, दीपक, अपह्नुति, अनुक्तनिमित्तक विशेषोक्ति, पर्यायोक्ति और संकट अलंकार के उदाहरणों में व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य की प्रधानता दिखाते हुए आनन्दवर्द्धन ने सिद्ध किया कि ध्वनि का अलंकार में अन्तर्भाव मानना युक्तिसंगत नहीं है। उनके अनुसार व्यंग्य रूप में अन्य अर्थ की प्रतीति होने पर भी ऐसे स्थलों पर व्यंजना न मानी जाकर समासोक्ति अलंकार की उपस्थिति मानी जाये।

ग. आनन्दवर्धन ने स्पष्ट किया कि जिस प्रकार दीपक, अपह्नुति आदि अलंकारो के उदाहरणों में उपमा अलंकार की व्यंग्य रूप से प्रतीति होने पर भी उसका प्राधान्य विवक्षित न होने के कारण वहां उपमा नाम से व्यवहार नहीं होता, इसी प्रकार समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त आदि अलंकारों में व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी उसका प्राधान्य विवक्षित न होने के कारण ध्वनि नाम से व्यवहार नहीं होता। फिर भी यदि पर्यायोक्त आदि अलंकारों के उदाहरण में कहीं व्यंग्य की प्रधानता हो तो उस अलंकार का अन्तर्भाव अंगीभूत ध्वनि में किया जायेगा, ध्वनि का अन्तर्भाव अंगभूत अलंकार में नहीं किया जायेगा। ध्वनि तो काव्य की आत्मा है, अलंकार्य है, अतः वह न तो अलंकार का स्वरूप धारण कर सकती है और न ही अलंकार में उसका अन्तर्भाव किया जा सकता है। इस प्रकार पर्यायोक्त प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकारों में व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी उसका प्रधान रूप से कथन नहीं होता। उनमें प्रधान चमत्कार तो अलंकार तत्त्व का ही रहता है, अतः इन्हें ध्वनि नहीं, अलंकार ही कहना चाहिए। वस्तुतः ध्वनि अंगी है और अलंकार, गुण, वृत्तियां उसके अंग है।

8.3.4 लक्षणावाद और सम्बन्धित आचार्य

भट्टनायक और उद्भट जैसे आचार्य लक्षणावादी माने जाते हैं। इनके मत में व्यंग्यार्थ का अन्तर्भाव लक्ष्यार्थ में किया जाना चाहिए अतः लक्षणा शक्ति से अलग व्यंजना शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। ये आचार्य ध्वनि अर्थात् व्यंजना को भाक्त अर्थात् लक्षणागम्य मानते हैं 'भाक्तमाहुस्तदन्ये' स्थापना को लेकर आनन्दवर्धन ने निम्नांकित तर्क दिये हैं –

क. लक्षणा शक्ति तीन हेतुओं पर आधारित है– मुख्यार्थ बोध, मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति तथा रूढ़ि या प्रयोजन। उदाहरणार्थ 'गंगायां घोषः' में गंगा शब्द का लक्ष्यार्थ तट है किन्तु इसी आधार पर यहा व्यंग्यार्थ स्पष्ट नहीं होता। गंगा शब्द का वाच्यार्थ जल प्रवाह है। लक्ष्यार्थ है गंगातट और प्रयोजन है घोष अर्थात् जल की शीतलता और पवित्रता – यही वास्तव में व्यंग्यार्थ है कि गंगा के किनारे घर बनाने से उसकी शीतलता

और पवित्रता बराबर प्राप्त होती रहती है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि स्वयं लक्षणा भी व्यंजना पर आधारित है अतः व्यंग्यार्थ को लक्ष्यार्थ में सीमित नहीं कर सकते।

ख. व्यंजना का अन्तर्भाव लक्षणा में इसलिए भी हो सकता है कि लक्ष्यार्थ मुख्यार्थ से सम्बद्ध रहता है जबकि व्यंग्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ कभी नियत, कभी अनियत और कभी परम्परित सम्बन्ध रहता है।

ग. व्यंग्यार्थ की प्रतीति कहीं लक्ष्यार्थ के बाद होती है जैसे 'गंगायां घोषः', में और कहीं लक्ष्यार्थ के बिना वाच्यार्थ के बाद भी होती है जैसे वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि, रसध्वनि के उदाहरणों में और जहां वाच्यार्थ के बाद होती है वहां व्यंग्यार्थ से नितान्त भिन्न होता है। इस प्रकार व्यंजना का अन्तर्भाव लक्षणा में नहीं माना जा सकता।

8.3.5 अलक्षणीयतावाद

अलक्षणीयतावादी आचार्य ध्वनि को अलक्षणीय अथवा अनिर्वचनीय मानते हैं। उनके मत में ध्वनि एक आन्तरिक तत्व है अतः इसे वर्णन का विषय नहीं बनाया जा सकता। उनकी इस धारणा से भी ध्वनि की प्रतिष्ठा हुई। आनन्दवर्द्धन इस वर्ग के आचार्यों के उत्तर देते हुए कहते हैं कि जब उन्होंने (आनन्दवर्द्धन ने) इस तत्व (ध्वनि) का विवेचन कर दिया है तो फिर इसे अनाख्या या अनिवर्चनीय कहना युक्तिसंगत नहीं है। उनका मत है कि ध्वनि का चारूत्व किसी अन्य काव्य तत्व से प्रकाशित नहीं हो सकता।

8.3.6 आनन्दवर्द्धन परवर्ती आचार्य

आनन्दवर्द्धन पूर्ववर्ती आचार्यों के 'वाद' विशेष की भाँति परवर्ती आचार्यों के ध्वनि विषयक विचारों को विभिन्न 'वादों' की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।

अभिधावाद

भट्टलोल्लट अभिधावादी आचार्य हैं जिन्होंने सम्पूर्ण अर्थ को अभिधागम्य माना, व्यंग्यार्थ नहीं 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' अर्थात् वक्ता को एक शब्द का जितना भी अर्थ अभीष्ट होता है, वह शब्द उतने ही अर्थ का वाचक होता है। उदाहरणार्थ गंगा पर घोष है। कथन में वक्ता को यदि कुटीर की पवित्रता या शीतलता बताना अभीष्ट हो तो यह अर्थ भी अभिधागम्य ही है। इसके लिए व्यंजना शक्ति की स्वीकृति व्यर्थ है। अभिधावादियों के इस तर्क के विरोध में ध्वनिवादियों का मत है कि किसी वाक्य में जितना अर्थ प्राप्त होता है उतने को ही ग्रहण कर लिया जाता है। यह ग्रहण वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ का ही होता हैं अप्रयुक्त शब्दों के अर्थ का नहीं होता। जबकि व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है कि केवल प्रयुक्त अर्थात् उपात्त शब्दों से ही अर्थ–सम्बद्ध हो। वह अप्रयुक्त अर्थात् अनुपात्त शब्दों से भी प्रतीत हो सकता है। जैसे कि 'गंगा में घोष है' कथन में कोई भी शब्द शीतलता या पवित्रता का वाचक नहीं हैं फिर भी अनुपात्त शब्द से व्यंग्यार्थ शीतलता या पवित्रता का अर्थ प्राप्त हो रहा है।

अभिधावादियों के अनुसार अभिधा शक्ति का व्यापार उसी प्रकार व्यापक और गहरा है जिस प्रकार किसी बलवान पुरुष द्वारा छोड़े हुए बाण का प्रभाव। जिस प्रकार वह बाण कवच, वक्ष और प्राणों का हरण करता है उसी प्रकार अभिधा का दीर्घ–दीर्घतर अर्थात् व्यापक और गहरा व्यापार भी वाच्य और व्यंग्य दोनों अर्थों का बोध कराने में सक्षम है किन्तु ध्वनिवादी इस मत को असंगत मानते हैं क्योंकि अभिधाजनित वाच्यार्थ का सम्बन्ध वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के साथ होता है, प्रतीयमान अर्थ के साथ नहीं। जैसे कि 'मित्र ! तुम्हारा पुत्र उत्पन्न हुआ है' वाक्य में प्रतीयमान अर्थ हर्षादि किसी भी शब्द का वाच्यार्थ नहीं है। दूसरे, यदि अभिधा ही तीनों अर्थों (वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ) की द्योतक

है तो फिर लक्ष्यार्थ के लिए आचार्यों ने लक्षणा शक्ति की उद्‌भावना क्यों की होती ? और यदि लक्ष्यार्थ के लिए लक्षणा शक्ति स्वीकृत हो सकती है तो फिर व्यंग्यार्थ के लिए व्यंजना शक्ति को स्वीकार करने में भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

अभिधावादियों के अनुसार जिस प्रकार का निमित्त (कारण) होगा उसी प्रकार का नैमित्तिक (कार्य) होगा। व्यंग्यार्थ रूप नैमित्तिक का निमित्त शब्द के अतिरिक्त और कोई हो ही नहीं सकता। अतः शब्द बोधक या वाचक है और व्यंग्यार्थ बोध्य या वाच्य है। यह वाचक–वाच्य सम्बन्ध जब अभिधा द्वारा स्थापित हो जाता है तो व्यंजना की स्वीकृति अनावश्यक है। जबकि ध्वनिवादियों का इस मत के सन्दर्भ में तर्क है कि शब्द व्यंग्यार्थ का न तो कारक निमित्त बन सकता है और न ही ज्ञापक निमित्त। शब्द तो व्यंग्यार्थ का प्रकाशक है अतः 'कुम्भकार घट' इस कारण–कार्य सम्बन्ध में कुम्भकार के समान शब्द व्यंग्यार्थ का कारक निमित्त नहीं है। इसी प्रकार दीप–घट इस ज्ञापक–ज्ञाप्य सम्बन्ध में घट के समान व्यंग्यार्थ का अस्तित्व पूर्व विद्यमान नहीं रहता। इसी के साथ अभिधा द्वारा अर्थ बोध परस्पर अन्वित पदों के संकेत से ही होता है, किन्तु व्यंग्यार्थ कभी संकेतित नहीं होता। इस प्रकार शब्द कारण रूप में घटित नहीं होता इसलिए व्यंग्यार्थ को उसका कार्य मानना उचित नहीं। स्पष्ट है कि अभिधा द्वारा व्यंग्यार्थ की गम्यता ध्वनिवादी स्वीकृत नहीं करते।

अभिधावादी मान्यता के अनुसार अभिधा केवल पदार्थ का सामान्य ज्ञानमात्र करा के लुप्त नहीं हो जाती, बल्कि वाक्य के अन्वितार्थ का विशेष ज्ञान कराती है अतः विशेष ज्ञान के अन्तर्गत व्यंग्यार्थ के भी सम्मिलित हो जाने के कारण व्यंजना को स्वीकार नहीं करना चाहिए। इस सम्बन्ध में व्यंजनावादियों (ध्वनिवादियों) की मान्यता है कि व्यंग्यार्थ वाक्य का अन्वितार्थ नहीं होता। दूसरे, वह विशेष से भी बढ़कर अति विशेष होता है और कहीं तो वाच्यार्थ से विपरीत भी होता है अतः अभिधा द्वारा इसका बोध सम्भव नहीं है।

तात्पर्यवाद

धनंजय एवं धनिक आचार्य तात्पर्य वृत्ति में व्यंजना का अन्तर्भाव मानते हैं। धनंजय के अनुसार जिस प्रकार 'द्वार द्वार' कहने से वक्ता की अश्रूयमाण क्रिया खोलो या बन्द करो का ज्ञान प्रकरणादि वश वाक्यार्थ अर्थात् तात्पर्यार्थ वृत्ति द्वारा हो जाता है, उसी प्रकार विभावादि युक्त काव्य में स्थापित भाव का ज्ञान भी काव्य के वाक्यार्थ अर्थात् तात्पर्यार्थ से ही हो जाता है। इसके लिए अलग व्यंजना वृत्ति मानने की जरूरत नहीं है। धनिक ने धनंजय के उपरोक्त अभिप्राय को थोड़ा तीव्र रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा कि जिस प्रकार कोई भी लौकिक वाक्य, वक्ता की अभिप्रेत विवक्षा (तात्पर्य) पर आश्रित रहता है उसी प्रकार काव्य भी कवि के तात्पर्य पर निर्भर होता है। किन्तु ध्वनिवादी आचार्य तात्पर्यवाद की इस मान्यता को स्वीकृत नहीं करते क्योंकि उनके अनुसार तात्पर्य नामक वृत्ति पदों के अन्वितार्थ का बोध करा चुकने के बाद जब विश्रान्त हो जाती है तो व्यंग्यार्थ बोध हेतु व्यंजना शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। तात्पर्यवादी वाक्यार्थ मात्र से आगे प्रतीयमान अर्थ हेतु तात्पर्य वृत्ति स्वीकृत करते हैं जबकि ध्वनिवादी व्यंजना शक्ति अनिवार्य मानते हैं।

अनुमानवाद

महिमभट्ट ने सम्पूर्ण व्यंजना व्यापार (ध्वनि) को अनुमान में अन्तर्भूत किया। उनके मतानुसार व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से ही सम्बद्ध रहता है। यदि वह वाच्यार्थ से सम्बद्ध न हो तो किसी भी शब्द से कोई भी अर्थ प्रतीत होने लगेगा। अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए वे अनुमान तत्व को अभीष्ट मानते हैं। उदाहरणार्थ किसी धार्मिक व्यक्ति से किसी व्यभिचारिणी स्त्री का यह कथन कि 'अब इस कुंज में निर्भय होकर भ्रमण करो क्योंकि यहां के सिंह ने कुत्ते को मार डाला है' वाच्यार्थ रूप में विधि वाक्य प्रतीत होता हुआ भी व्यंग्यार्थ रूप में निषेध वाक्य है कि यहां मत घूमा करो।

महिमभट्ट के अनुसार यह निषेधार्थ अनुमानगम्य है न कि व्यंजनागम्य। अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार होगी – यह स्थान सिंह युक्त होने के कारण धार्मिक व्यक्ति के लिए नहीं है – साध्य। कुत्ते के लौट जाने पर ही वह व्यक्ति भ्रमण कर सकता है–हेतु। किसी भी अन्य भीरु व्यक्ति के समान–दृष्टान्त। किन्तु ध्वनिवादी इस निषेध रूप को अनुमान का विषय नहीं मानते। अनुमान की व्याप्ति निश्चित हेतु से ही सम्भव है जबकि ध्वनि काव्य कवि–कल्पनाश्रित होने के कारण अनिश्चिय हेतु से भी युक्त होता है। महिमभट्ट का यह दृष्टान्त कि 'जहां–जहां भीरु का भ्रमण नहीं होगा वहां–वहां भय का कारण अवश्य होगा' असंगत है क्योंकि भीरु लोग भी भययुक्त स्थान पर गुरु की कठोर आज्ञा या प्रिया के अनुराग अथवा अन्य कारण से वहां भ्रमण करते हुए देखे जा सकते हैं अतः यहां निश्चित हेतु न होकर अनिश्चित हेत्वाभास है। इसके अतिरिक्त यह अनुमान प्रक्रिया विरुद्ध और असिद्ध नामक दो अन्य हेत्वाभासों के कारण भी युक्ति–संगत नहीं है – वह धार्मिक व्यक्ति कुत्ते की अपवित्रता के कारण उससे भयभीत होकर वहां भ्रमण नहीं कर सकता किन्तु वीर व्यक्ति सिंह से भयभीत न होकर और शिकार से प्रेरित होकर वहां भ्रमण कर सकता है यह विरुद्ध हेत्वाभास है। दूसरे, वहां सिंह है या नहीं यह न तो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध होता है न ही अनुमान प्रमाण द्वारा। प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भी यह सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि सिंह के विषय में बताने वाली स्त्री सामान्य है या व्यभिचारिणी यह सिद्ध नहीं होने के कारण हेत्वाभास है। इन सब कारणों से व्यंजना शक्ति को अनुमानगम्य मानना संगत नहीं।

8.4 स्व मूल्यांकन :

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में आपने ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्य एवं उनकी स्थापनओं का अध्ययन किया है। अब आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरकर एवं प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर इस प्राप्त ज्ञान का मूल्यांकन करें। यदि आप इस मूल्यांकन में असमर्थ हैं तो आपको निराश होने की आवश्यकता नहीं। आप इस अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

स्व मूल्यांकन : क – रिक्त स्थान भरो

1) ––––––––––––––––––ने सम्पूर्ण व्यंजना व्यापार (ध्वनि) को अनुमान में अन्तर्भूत किया।
2) –––––––––––––––––––––––––आचार्य तात्पर्य वृति में व्यंजना का अन्तर्भाव मानते हैं।
3) अलक्षणीयतावादी आचार्य ध्वनि को –––––––––––––मानते हैं।
4) आनन्दवर्द्धन के अनुसार –––––––––––––––––ने रसादि तात्पर्य से इस ध्वन्यमान अर्थ का प्रतिपादन किया है।
5) भट्टलोल्लट –––––––––––––––––––––आचार्य हैं।

स्व–मूल्यांकनः ख – सही / गलत

1) ध्वनि (व्यंग्यार्थ) शब्दार्थ से विभिन्न तत्व है। (   )
2) शब्द की जिस शक्ति के द्वारा व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है उस शब्द–शक्ति को भी ध्वनि कहते हैं। (   )
3) वह काव्य ध्वनि नहीं कहलाता है जिसमें व्यंग्यार्थ प्रधान और चमत्कार युक्त होता है। (   )
4) जो ध्वनि करे अथवा कराये वह व्यंजक शब्द ध्वनि कहलाता है। (   )
5) ध्वनि लावण्य आदि के समाज आन्तरिक तत्व नहीं है। (   )

8.5 सारांश

इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय के केन्द्र में आनन्दवर्धन उद्भावक एवं प्रतिष्ठापक के रूप में सामने आते हैं जिन्होंने न केवल ध्वनि की प्रतिष्ठा की अपितु ध्वनिविरोधी वादो, मतों, आचार्यों के कथनों का निःशेष करते हुए ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया।

8.6 कठिन शब्द

1) दृष्टांत – निश्चित एवं प्रामाणिक रूप देखना
2) प्रत्यक्ष – स्पष्ट दिखाई पड़ने वाला
3) अनिश्चित– जिसका निश्चय न हुआ हो
4) प्रक्रिया – प्रकरण, क्रिया
5) अभिव्यक्ति – प्रकट करना

8.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. ध्वनि सम्प्रदाय के विभिन्न आचार्यों की स्थापनाओं पर प्रकाश डालिए।

2. आनन्दवर्धन की ध्वनि विषयक मान्यता पर प्रकाश डालिए।

3. तात्पर्यवाद और अनुमानवाद विषयक विभिन्न आचार्यों की स्थापनाओं को विवेचित कीजिए।

8.8 उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन : क – 1. महिमभट्ट 2. धनंजय एवं धनिक 3. अलक्षणीय अथवा अनिर्वचनीय 4. भरतमुनि 5. अभिधावादी

स्व–मूल्यांकन : ख – 1. सही 2. सही 3. गलत 4. सही 5. गलत

8.9 पठनीय पुस्तकें

(1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा, हरियाणा ग्रंथ अकादमी पंचकूला, 2013

(2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकशन, वाराणसी, 2023

(3) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय, वाणी प्रकाशन, 2024

(4) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2019

वक्रोक्ति सम्प्रदायः प्रमुख आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ

रूपरेखा

9.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
9.2 प्रस्तावना
9.3 वक्रोक्ति सम्प्रदायः प्रमुख आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ
9.3.1 कुन्तक पूर्व वक्रोक्तिः आचार्य एवं स्थापनाएँ
9.3.2 कुन्तक और उनका युग
9.3.3 कुन्तक परवर्ती वक्रोक्ति
स्व– मूल्यांकन
9.4 सारांश
9.5 कठिन शब्द
9.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
9.7 उत्तर कुंजी
9.8 पठनीय पुस्तकें

9.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों ! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको वक्रोक्ति सम्प्रदाय के आचार्य एवं उनकी स्थापनओं से परिचित करवाना है।

प्रस्तुत अध्याय के अध्ययनोपरान्त आप

– वक्रोक्ति सम्प्रदाय के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

– वक्रोक्ति सम्प्रदाय के विभिन्न आचार्यों एवं उनकी स्थापनाओं से अवगत हो सकेंगे।

9.2 प्रस्तावना

अथर्ववेद में वक्र तथा वक्रा शब्द का प्रयोग 'कुटिल' अर्थ में हुआ है। कालिदास के 'वक्रः पन्था' का अर्थ 'टेढ़ा' है। इस प्रकार वक्रा + उक्तिः = वक्रोक्तिः का अर्थ हुआ 'टेढ़ी उक्ति'। बाणभट्ट ने वाक्छल, क्रीड़ापाल, परिहास–कल्पित आदि अर्थों में वक्रोक्ति का प्रयोग किया है। इन अर्थों के अतिरिक्त चमत्कारपूर्ण शैली, वचनविदग्धता आदि अर्थों में भी बाण का वक्रोक्ति प्रयोग मिलता है। भामह ने लोकातिकान्तगोचर रूप अतिश्योक्ति के अर्थ में वक्रोक्ति का व्यवहार किया है।

इन पूर्ववर्णित अर्थों को सुस्पष्ट करते हुए वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक ने 'वैदग्ध–भंगी–भणिति' को ही वक्रोक्ति कहा। वैदग्ध = चतुरता अर्थात् एक बात को सुन्दर ढंग से कहने का सामर्थ्य। भंगी = एक प्रकार का वैचित्र्य, चमत्कार। भर्णित = कथन। इस प्रकार वैदग्ध भंगी भणिति का अर्थ हुआ चतुरता और विचित्रता से युक्त जो

कथन है वही वक्रोक्ति है। वक्रोक्ति एक सम्प्रदाय है, काव्य का एक सिद्धान्त है, एक रमणीय काव्य का मूल स्त्रोत है इसीलिए उनके काव्य सिद्धान्त का नाम 'वक्रोक्ति–काव्यजीवितम्' है। कुन्तक ने वक्रोक्ति के लिए कहा – 'वक्र अभिधा' अर्थात् कुटिल उक्ति।

9.3 वक्रोक्ति सम्प्रदायः प्रमुख आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ

वक्रोक्ति के व्यवस्थित विवेचन का आरम्भ भामह से होता है, किन्तु उसके बीज सुबन्धु और बाण में मिलते हैं। बाण की 'कादम्बरी' में वक्रोक्ति शब्द का स्पष्ट रूपेण प्रथम उल्लेख उज्जयिनी वर्णन के प्रसंग में हुआ है। अभिनवगुप्त के साक्ष्यानुसार जिसे भरत ने लक्षण कहा है उसी को भामह वक्रोक्ति कहते हैं। हालांकि भामह से पूर्व भारतीय काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति का विभावन नहीं मिलता लेकिन भरत के लक्षण में इसका स्त्रोत देखा जा सकता है। अतः जिस वक्रोक्ति के आचार्य बाद में भामह और कुन्तक हुए, उसके आदि आचार्य भरत ही है।

वक्रोक्ति विषयक विवेचन को हम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं–कुन्तक पूर्व वक्रोक्ति, कुन्तक युगीन और कुन्तक परवर्ती वक्रोक्ति।

9.3.1 कुन्तक पूर्व वक्रोक्तिरू आचार्य एवं स्थापनाएँ

भामह के 'काव्यालंकार' में वक्रोक्ति का व्यापक एवं व्यवस्थित विवेचन काव्यशास्त्रीय परम्परा में सर्वप्रथम मिलता है। उन्होंने वक्रोक्ति में शब्द और अर्थ दोनों की वक्रता का समावेश माना है। केवल 'नितान्त' आदि शब्दों के प्रयोग (ऋृजुक्ति) से काव्य में सौन्दर्य नहीं आता। अर्थात् 'नितान्त सुन्दर, नितान्त सुन्दर' कहने से कोई सौन्दर्य नहीं होगा। काव्य सौन्दर्य हेतु शब्दगत और अर्थगत वक्रता जरूरी है। इन उपादानों से तो आभूषण, उपवन और मालायें अलंकृत होती हैं, वाणी को अलंकृत करने का सामर्थ्य तो शब्द और अर्थ की वक्रता में है। अतः भामह के अनुसार कवि को इन बाह्य उपादानों के संचयन में व्यस्त न होकर काव्य के निष्पादक उस आंतरिक तत्व (वक्रोक्ति) पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। 'वक्राभिधेय शब्दोक्तिः' एवं 'वक्रार्थ शब्दोक्तिः' का अर्थ एक ही है। इस प्रकार भामह के अनुसार शब्दवक्रता और अर्थवक्रता का समन्वित रूप ही वक्रोक्ति है। यह वक्रोक्ति ही वाणी का वांछित अलंकार है।

भामह ने अतिशयोक्ति के स्वरूप वर्णन द्वारा वक्रता का आशय स्पष्ट किया। अतिशयोक्ति के विषय में उनका मत है कि किसी कारणवश लोकोत्तर अर्थ का बोधक जो वचन है उसे अतिशयोक्ति अलंकार कहते हैं। यह सम्पूर्ण अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति है। इससे अर्थ में रमणीयता आ जाती है।

"सैषा सैर्वव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोअस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।।"

वक्रोक्ति का साम्राज्य सार्वभौमिक है – 'कोऽलंकारोऽनया विना।' भामह ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में सिद्ध किया कि वक्रोक्ति सारी अलंकार पद्धति का मूलाधार है।

भामह ने वक्रोक्ति के अभाव को 'वार्ता'। हीन उक्ति को उन्होंने वार्ता का नाम दिया– 'सूर्य अस्त हो गया है। चन्द्रमा चमक रहा है' जैसी उक्तियाँ काव्य नहीं वरन् वार्ता हैं क्योंकि काव्य के लिए वक्रोक्ति का होना जरूरी है जिसका यहाँ नितांत अभाव है। वक्रोक्तिरहित चमत्कारविहीन उक्ति को ही वे वार्ता कहते हैं। वस्तुतः वक्रोक्ति अलंकार का ही चमत्कार है। जहाँ शब्द और अर्थ की वक्रता नहीं है वहाँ अलंकार भी कोई महत्व नहीं रखते। इस प्रकार भामह ने वक्रोक्ति के सम्बन्ध में तीन महत्वपूर्ण बातें कहीं एक, वक्रोक्ति की मूलभूत विशेषता शब्द और अर्थ का वैचित्र्य वक्रता है। दो, वक्रोक्ति प्रयोग से अर्थ का विचित्र रूप से भावन होता है। तीन, वक्रोक्ति सभी अलंकारों का मूल है, इसके

बिना काव्य में अलंकारत्व की स्थिति हो ही नहीं सकती। इस प्रकार वक्रोक्ति के व्यापक विवेचन का प्रथम सुष्ठु रूप भामह में मिलता है।

दण्डी में आकर स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति का स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है। उन्होंने सम्पूर्ण वांग्मय को वक्रोक्ति और स्वाभावोक्ति—दो भागों में बाँटा।

'भिन्नंद्रिधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्'

भामह की भाँति दण्डी ने भी अतिश्योक्ति को सभी अलंकारों का आधार माना है, किन्तु दोनों के वक्रोक्ति सम्बन्धी चिन्तन में अन्तर यह है कि भामह स्वाभावोक्ति को भी वक्रोक्ति के व्यापक आधार में समेट लेते हैं और इस प्रकार वक्रोक्ति की एकछत्र प्रभुता सिद्ध कर देते हैं। जबकि दण्डी वक्रोक्ति के अतिरिक्त स्वाभावोक्ति की सत्ता भी स्वीकार करते हैं। दूसरी बात यह है कि दण्डी वक्रोक्ति में श्लेष के योग से चारुता में वृद्धि कह कर वक्रोक्ति को थोड़ा संकीर्ण कर देते हैं। क्योंकि सभी प्रकार की वक्रोक्तियों में श्लेष का योग नहीं होता।

"श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।"

दण्डी ने सम्पूर्ण साहित्य के वक्रोक्ति और स्वाभावोक्ति जो दो भेद माने, बाद में इसी वर्गीकरण से प्रेरणा ग्रहण करके भोज ने इसमें 'रसोक्ति' को जोड़ दिया।

वामन के अनुसार वक्रोक्ति का क्षेत्र 'सादृश्याश्रित लक्षणा' तक ही सीमित है। अलंकार विशेष के रूप में वक्रोक्ति की पहली स्थापना आचार्य वामन में हुई। वामन रुद्रट से इस मायने में भिन्न हैं कि उन्होंने रुद्रट की भाँति इसे शब्द—अलंकार न मानकर अर्थालंकार ही माना है और इसे सादृश्यमूलक अर्थालंकार उपमा के समान ही उपस्थित करते हैं — 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'। उनकी 'विशिष्टपदरचना रीतिः' में विशिष्टता वक्रता से नितान्त भिन्न नहीं है। उनके शब्दों में विशेष का अर्थ है गुणात्मा और उनके अनेक शब्द तथा अर्थ गुणों में वक्रोक्ति के अनेक रूपों का स्पष्ट अन्तर्भाव है। उदाहरणार्थ— ओज, श्लेष, उदारता, कात्ति आदि अनेक शब्द—गुणों में कुन्तक ही वर्ण—विन्यास वक्रता का अन्तर्भाव है। वामन ने अपने ढंग से वक्रता के अनेक रूपों का वर्णन किया है। केवल वक्रता या वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं किया।

वामन के पश्चात् रुद्रट ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने वक्रोक्ति का क्षेत्र और अधिक संकुचित करके इसे केवल शब्दालंकार तक सीमित कर दिया। रुद्रट से ही वक्रोक्ति अंलकार के दो भेदों का प्रारम्भ होता है —श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति। काकु वक्रोक्ति में उच्चारण और स्वरों के उतार—चढ़ाव से उक्ति में वक्रता उत्पन्न की जाती है जबकि श्लेष वक्रोक्ति में यह कार्य श्लेष की सहायता से किया जाता है। इस विवेचन से परवर्ती आचार्य रुय्यक मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित आदि आलंकारिक प्रभावित और ग्रसित हुए।

आनन्दवर्द्धन ने वक्रोक्ति सम्बन्धी भामह की मान्यताओं को ही सुदृढ़ आधार प्रदान किया। भामह की भाँति वक्रोक्ति और अतिश्योक्ति को पर्याय स्वीकृत किया। उन्होंने वक्रोक्ति और अतिश्योक्ति का सफल प्रयोग कुशल कवि के हाथों ही सम्भव माना। साथ ही इनके प्रयोग को प्रसंगानुकूल स्वीकार किया अर्थात् औचित्य का ध्यान रखने की बात कही।

9.3.2 कुन्तक और उनका युग

भामह के वक्रोक्ति विषयक विवेचन की चरम परिणति कुन्तक में हुई। उन्होंने वक्रोक्ति को 'वैदग्धभंगीभणिति' कहा। यह प्रसिद्ध अभिधान का अतिक्रमण करने वाली विचित्र अभिधा ही है। वे अपने वैचित्र्य की व्याख्या भामह की अतिशयोक्ति के पर्याय रूप में करते हैं। उनके लिए काव्य अलंकृत शब्द और अर्थ के अलावा और कुछ है ही नहीं

और इसका एकमात्र अलंकार वक्रोक्ति है। यह वक्रता कवि–व्यापार की देन है एवं वर्ण, पदपूर्वार्द्ध, पदपराध, वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध वक्रता नामक इसके छः भेद हैं।

कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' सिद्ध करते हुए वक्रोक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है – 'वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा, अर्थात् प्रसिद्ध उक्ति से भिन्न वर्णन शैली को वक्रोक्ति कहते हैं। कुन्तक के अनुसार 'विचित्र' का अर्थ है प्रसिद्ध कथन पद्धति से भिन्न कथन पद्धति का प्रयोग करना। उन्होंने 'प्रसिद्ध' का अर्थ भी स्पष्ट किया। प्रसिद्ध का आशय है शास्त्र और व्यवहार में प्रयुक्त शैली। इस प्रकार कुन्तक की वक्रोक्ति का अर्थ हुआ–प्रसिद्ध कथन पद्धति से भिन्न विचित्र कथन शैली और विचित्र का तात्पर्य वैदग्धजन्य चारुता के विवेचन का सूक्ष्म निरीक्षण कर कुछ महत्वपूर्ण पहलू सामने आते हैं–

क. वक्रोक्ति को सामान्य कथन शैली से भिन्न माना।

ख. यह विचित्र उक्ति लोक या शास्त्र में प्रयुक्त शब्दार्थ प्रयोग से भिन्न ढंग की होती है।

ग. इस विचित्र उक्ति हेतु कवि–प्रतिभा की आवश्यकता होती है।

घ. यह सहृदय को आादित करने वाली होती है।

कुन्तक ने 'प्रसिद्धमार्गम्' के द्वारा तीन बातें कहीं।

क. प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकी–अर्थात् एक बात को कहने का जो पुराना घिसा–पिटा तरीका है उसका उल्लंघन करने वाला साधन वक्रोक्ति है।

ख. अतिक्रान्त व्यवहार सरणि–अर्थात् एक बात की अभिव्यक्ति हेतु जो मार्ग है उसका उल्लंघन नहीं करने वाली शैली वक्रोक्ति है।

ग. प्रसिद्ध प्रस्थान शब्दार्थोयनिबन्ध व्यतिरेकी–अर्थात् पुराने समय से शब्द और अर्थ को आपस में बाँधकर एक बात को जिस तरीके से व्यक्त करते आए हैं, उसका उल्लंघन करना वक्रोक्ति है।

इन तीनों के रूप में वक्रोक्तिकार ने 'लोकातिक्रान्तगोचरवचनावली' के माध्यम से आलौकिक विच्छत्ति (चमत्कार) से परिपूर्ण शब्दार्थ युग्ल को वक्रोक्ति माना है। इसी वक्रोक्ति का एक स्थल पर परिचय देते हुए वे उसे विचित्र अभिधा कहते हैं। कुल मिलाकर काव्य के जीवित (आत्मा) के रूप में वक्रोक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा कुन्तक में हुई। जिन्होंने इसे सौन्दर्यशास्त्रीय आधार प्रदान किया।

अभिनवगुप्त ने वक्रोक्ति को सामान्य अलंकार माना। शब्द और अर्थ की वक्रता का आशय उनका लोकोत्तर रूप से अवस्थित होता है और लोकोत्तर का अतिशयता। इस प्रकार अभिनव के अनुसार अतिशयोक्ति एक सामान्य अलंकार हुआ और चूंकि अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति पर्याय है इसीलिए वक्रोक्ति सामान्य अलंकार है। उनका मत है कि सम्पूर्ण अलंकार वर्ग के बीजभूत चमत्कार कथा–शरीर को वैचित्र्य देने वाले वक्रोक्ति रूप लक्षण शब्द से कहे जाते हैं। इस प्रकार लक्षण ही वक्रोक्ति है। अभिनव के लक्षण में कुन्तक की वक्रोक्ति विषयक उद्‌भावना देखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त अभिनव के लक्षण की शोभा का मूल कारण कवि–व्यापार की जो विशिष्टता है, वही कुन्तक की वैदग्धभंगीमणिति है।

भोज सम्पूर्ण अभिव्यंजना को अलंकार कहना पसन्द करते हैं तथापि वे वक्रोक्ति को उपमा आदि अलंकारों में सीमित कर देते हैं। उन्होंने दण्डी की भाँति वांग्मय को तीन भागों में बाँटा –स्वाभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति। जहाँ उपमादि अलंकारों का प्राधान्य होता है वहाँ वक्रोक्ति होती है। जहाँ गुणों का प्राधान्य होता है वहाँ स्वाभावोक्ति और

जहाँ विभावों, अनुभावों, संचारी भावों के योग से रस निष्पत्ति होती है वहाँ रसोक्ति होती है। भोजराज में वक्रोक्ति के तीन अर्थ मिलते हैं – पहला अर्थ अलंकार सामान्य है जो काव्य की आत्मा है। दूसरा औपम्यगर्भ अलंकारों के अर्थ में है और तीसरा वाकोवाक्य नामक शब्दालंकार के उपभेदों में से एक अलंकार विशेष है। भोज में वक्रोक्ति विषयक सभी मतों का समाहार मिलता है। हम कह सकते हैं कि कुन्तक, अभिनवगुप्त और भोज का काल वक्रोक्ति का उत्कर्ष काल है। किन्तु इसके पश्चात् वक्रोक्ति सिद्धान्त की महत्ता क्षीण होने लगती है।

9.3.3 कुन्तक परवर्ती वक्रोक्ति

परवर्तीकाल में वक्रोक्ति अंलकार विशेष के सीमित अर्थ में संकुचित होती गयी। मम्मट, विश्वनाथ आदि ने इसे शब्दालंकार माना। रुय्यक, विद्याधार, विद्यानाथ आदि ने उसे अर्थालंकार कहा। यहाँ तक कि महिमभट्ट ने वक्रोक्ति को स्वीकृत ही नहीं किया। जबकि मम्मट ने रुद्रट के मत को सम्पूर्णतः रुद्रट स्वीकारते हुए भंग–श्लेष और काकु वक्रोक्ति–दोनों भेदों का 'काव्यप्रकाश' में उल्लेख किया है। उन्होंने रुद्रट के भंगश्लेष में अभंगश्लेष की भी उद्भावना कर दी। जिसका बाद में हेमचन्द्र ने भी अनुसरण किया। यहीं से वक्रोक्ति की संकीर्णता स्थापित हो जाती है और काव्य की आत्मा के रूप में वह अपनी प्रतिष्ठा खो देती है। मम्मट वक्रोक्ति को पारिभाषित करते हुए कहते हैं 'अन्य प्रकार से कहा हुआ वाक्य दूसरे के द्वारा श्लेष अथवा काकु से, अन्य प्रकार से लगा लिया जाता है, वह वक्रोक्ति नामक शब्दालंकार होता है। वह श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति दो तरह का होता है।' अलंकार विशेष के रूप में वक्रोक्ति की चर्चा करते हुए रुय्यक ने लिखा है कि अन्य अर्थ में प्रयुक्त उक्ति की श्लेष अथवा काकु द्वारा अन्य अर्थ में योजना वक्रोक्ति कहलाती है। जो वाक्य किसी के द्वारा अन्य अभिप्राय से कहा गया हो, दूसरे वक्ता द्वारा श्लेष अथवा काकु के सहारे अन्य अर्थ में घटित कर देना ही वक्रोक्ति है। स्पष्ट है कि रुय्यक यहाँ पूर्ववर्ती परम्परा का अनुसरण कर रहे हैं।

स्व मूल्यांकन :

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में आपने वक्रोक्ति सम्प्रदाय के आचार्य एवं उनकी स्थापनाओं का अध्ययन किया है। अब आप निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर एवं रिक्त स्थान भरकर इस अध्याय से प्राप्त ज्ञान का मूल्यांकन करें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा।

स्व मूल्यांकन : क– सही / गलत

1) कुन्तक, अभिनवगुप्त और भोज का काल वक्रोक्ति का काल है। (   )
2) काव्यप्रकाश के रचयिता आचार्य दण्डी है। (   )
3) आचार्य कुंतक के अनुसार वक्रोक्ति के छह भेद माने हैं। (   )
4) आचार्य कुंतक मतानुसार वक्रोक्ति के 42 उपभेद होते हैं। (   )
5) अभिनव के लक्षण में कुन्तक की वक्रोक्ति विशयक उद्भावना देखी जा सकती है। (   )

स्व मूल्यांकन : ख – रिक्त स्थान

1) ––––––––––के काव्यालंकार' में वक्रोक्ति का व्यापक एवं व्यवस्थित विवेचन काव्यशास्त्रीय परम्परा में सर्वप्रथम मिलता है।

2) वक्रोक्ति के व्यवस्थित विवेचन का आशय ——————————————से होता है।

3) बाण की —————————————————— वक्रोकित शब्द का स्पष्ट रूपेण प्रथम उल्लेख उज्जयिनी वर्णन के प्रसंग में हुआ है।

4) भामह के अनुसार शब्दवक्रता और अर्थवक्रता का समन्वित रूप ही ——————————————————है।

5) भामह के वक्रोक्ति विशयक विवेचन की चरम परिणति —————————————में हुई।

9.4 सारांश

वक्रोक्ति सम्प्रदाय में वास्तविक स्थिति यह है कि कुन्तक के पश्चात् कोई रेखांकित करने वाला आचार्य नहीं हुआ। वैसे वाग्भट, हेमचन्द्र, जयदेव, विद्याधर, विश्वनाथ, केशव मिश्र, जगन्नाथ आदि नाम गिने जा सकते हैं किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि इन विद्वानों ने वक्रोक्ति के एक भाग विशेष यथा सभंग श्लेष, अभंग श्लेष, काकु वक्रोक्ति आदि का ही संकेत करके वक्रोक्ति विषयक चिन्तन को संकीर्ण ही बनाया है। इस प्रकार निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि वक्रोक्ति को एक सम्प्रदाय और सिद्धान्त रूप में सार्वभौम रूप कुन्तक ने ही प्रदान किया। किन्तु बड़ी विचित्र विडम्बना है कि भारतीय काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति सम्प्रदाय का जो विचित्र अधोपतन हुआ वह अन्य किसी सम्प्रदाय में नहीं देखा जाता। इस प्रकार वक्रोक्ति एक सामान्य शब्दालंकार और अर्थालंकार के रूप में ही अवशिष्ट रही।

9.5 कठिन शब्दः—

1) अनुसरण— नकल

2) संकीर्ण— सँकरा, तंग

3) अविशिष्ट — बचा हुआ, बाकी

4) प्रतिष्ठा — मान—मर्यादा

5) संकुचित — संकोचयुक्त, सिकुड़ा हुआ

9.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. वक्रोक्ति विषयक विभिन्न आचार्य एवं उनकी स्थापनाओं पर प्रकाश डालें।

2. कुन्तक की वक्रोक्ति विषयक स्थापनाओं का विवेचन कीजिए।

3. **वक्रोक्ति विषयक कुन्तक परवर्ती आचार्यों की स्थापनाओं का विवेचन कीजिए।**

9.7. उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन : क – 1. भामह 2. भामह 3. 'कादम्बरी'4. वक्रोक्ति 5. कुन्तक

स्व–मूल्यांकन : ख – 1.सही 2.गलत 3. सही 4. गलत 5. सही

9.8 पठनीय पुस्तकें

(1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा, हरियाणा ग्रंथ अकादमी पंचकूला, 2013

(2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2023

(3) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय, वाणी प्रकाशन, 2024

(4) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2019

औचित्य सम्प्रदायः आचार्य एवं उनके सिद्धान्त

रूपरेखा

10.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
10.2 प्रस्तावना
10.3 औचित्य सम्प्रदायः आचार्य एवं उनके सिद्धान्त
10.3.1 स्व–मूल्यांकन
10.4 सारांश
10.5 कठिन शब्द
10.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
10.7 उत्तर कुंजी
10.8 पठनीय पुस्तकें

10.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों ! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको औचित्य सम्प्रदाय के आचार्यों एवं उनकी स्थापनओं से परिचित करवाना है।

प्रस्तुत अध्याय के अध्ययनोपरान्त आप

– औचित्य सिद्धान्त के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

– औचित्य सम्प्रदाय से संबंधित विभिन्न आचार्यों एवं उनके सिद्धान्तों से अवगत हो सकेंगे।

10.2 प्रस्तावना

काव्यशास्त्र के सभी सम्प्रदायों की कसौटी का आधार औचित्य है। उचित के भाव को औचित्य कहते हैं। 'उचितस्य च यो भावः तदोचित्यं प्रचक्षते' (क्षेमेन्द्र) जो जिसके सदृश या अनुकूल होता है वह उसके लिए उचित है 'उचितं प्राहुराचार्यः सदृशं किल यस्य यत्।' क्षेमेन्द्र के इस कथन से स्पष्ट है कि औचित्य के नहीं रहने पर बाह्य शोभा के हेतु रूप में अलंकार महत्वहीन हो जायेंगे। गुण श्रुत, सत्य एवं शील के उपार्जित नहीं रह पायेंगे। यहाँ तक कि रस भी औचित्य निष्प्राण हो जायेगा। इसीलिए क्षेमेन्द्र ने औचित्य को न केवल काव्य का बल्कि काव्य की आत्मा का प्राण माना है।

10.3 औचित्य सम्प्रदाय आचार्य एवं उनके सिद्धान्त

संस्कृत के आचार्यों में रुद्रट, आनन्दवर्द्धन एवं क्षेमेन्द्र ने औचित्य का प्रत्यक्ष विवेचन किया। परोक्ष विवेचन करने वाले आचार्यों भरत, भामह, दण्डी, भट्टलोल्लट आदि ने औचित्य का सीधा प्रयोग न करके उसको गुण, अलंकार या अन्य काव्यांग के रूप में ग्रहण और विवेचित किया। परोक्ष विवेचन भी क्या उचित है इस विषय को केन्द्र में न रखकर क्या अनुचित है इस सूची पर ध्यान केन्द्रित करता है। दोष विवेचन वह चाहे शब्द दोष हो या अलंकार दोष अथवा

फिर इस–दोष के रूप में मिलता है। भरतमुनि ने औचित्य को 'अनुरूपता', भामह ने 'न्याय्यता' और 'युक्तता', दण्डी ने 'विधि दर्शिता मार्ग, जगन्नाथ ने 'योग्यता' के पर्याय रूप में लिया।

1 आचार्य क्षेमेन्द्र

औचित्य सम्प्रदाय के उद्भावक एवं प्रणेता रूप में आचार्य क्षेमेन्द्र का नाम निर्विवाद स्वीकृत है किन्तु इसके बीज आदिम आचार्य भरतमुनि में ही मिलते हैं। हालांकि भरत ने उचित या औचित्य का तो नहीं किन्तु औचित्य के पर्याय 'अनुरूप' का प्रयोग किया है–

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः,
वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं च पाठयं,
पाठटानुरूपोऽभिनचश्च कार्यः।।

अर्थात् नाट्य में उचित का निर्वाह करने हेतु आवश्यक है कि वह (आयु) के अनुरूप वेश हो, वेश के अनुरूप चाल–ढाल हो, चाल–ढाल के अनुसार बोलचाल हो और बोलचाल के अनुसार अभिनय हो। स्पष्ट है कि भरतमुनि के इस उदाहरण में औचित्य सिद्धान्त का बीज तत्व समाहित है। भरतमुनि का आलोच्य विषय नाट्य था और उसका साध्य रस इसीलिए रस की दृष्टि से उन्होंने अनुरूपता और अननुरूपता का विचार किया।

2 भामह ने चारुता की दृष्टि से औचित्य पर धनात्मक और निषेधात्मक दोनों पक्षों पर विचार किया। औचित्य के लिए उनके यहाँ 'न्याय' और 'युक्तता' जैसे पर्याय मिलते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने अनेकशः गुण, अलंकार एवं दोषाभाव से चारुतोत्पादक उपकरणों की युक्तता पर विचार किया। भरत ने दृश्यकाव्य में लोक स्वभाव के अनुकरण की बात कही थी, भामह ने महाकाव्य जैसे श्रव्य काव्य के स्वरूप निर्वचन के सन्दर्भ में 'युक्तं लोकस्वभोवन' कहा। भामह के अनुसार यदि कोई पदावली में माधुर्य चाहे और अत्यधिक सामासिक पदावली का प्रयोग करे तो यह असदृश योजना होने से अनौचित्य के कारण सुमेधा लोगों को चारू (सुन्दर) न लगेगी। उन्होंने रीति के रस प्रतिकूल प्रयोगों को 'अरीतिमत्' दोष कहा। उसी को रीति का अनौचित्य कहा जा सकता है। शृंगार रस के लिए गौड़ी अनुकूल परंतु वीर, अद्भुत रस के लिए प्रतिकूल नहीं ? वर्णों के रस विरोधी प्रयोग से वर्ण विषयक अनौचित्य उपस्थित होता है। कोश लब्ध या व्याकरण सम्मत होने पर भी कोई प्रयोग रूढ़ न हुआ हो तो उसे काव्य में प्रयुक्त नहीं करना चाहिए। भामह ने स्पष्ट कहा कि दोष का मूल अनौचित्य में होता है।

उपरिवत् औचित्य के निषेधात्मक पक्षों के साथ भामह ने विधेयात्मक पक्ष की भी चर्चा की। औचित्य के सद्भाव का संस्पर्श कभी–कभी दोष भी गुण का रूप दे देता है – 'सन्निवेशाविशेषात्तु....स्त्रजामिव।' अर्थात् विशेष संयोजन के कारण दोषपूर्ण उक्ति भी इसी प्रकार शोभावान् हो जाती है जिस प्रकार माला के मध्य स्थित पलाश। इसी तरह उन्होंने कहा कि यदि आश्रय सुन्दर हो तो असाधु भी उसी प्रकार शोभावान् हो जाता है, जिस प्रकार किसी कमनीय रमणी के नेत्रों में पड़ा हुआ काजल उसके लावण्य की श्रीवृद्धि करता है। भामह ने जिस 'सन्निविशाविशेषात्तु' की बात कही वह वास्तव में औचित्य ही है। काव्य दोष औचित्य का आश्रय पाकर काव्य गुण बन जाता है। उदाहरणार्थ उन्होंने स्पष्ट किया कि सामान्य स्थिति में शब्द पुनरावृत्ति दोष हो जाता है किन्तु शोक, भय आदि भावों की अभिव्यक्ति में वक्ता घबराकर एक ही शब्द बार–बार बोलता है तो वह पुनरावृत्ति दोष नहीं रहेगा अपितु रस वृद्धि करने वाला एक गुण हो जाएगा।

दण्डी ने भी अपने दोष विवेचन में औचित्य शब्द का प्रयोग नहीं किया यद्यपि उसका मूलाधार औचित्य सम्बन्धी अवधारणा ही है। उनके अनुसार देश, काल, लोक आदि के प्रतिकूल बातें भी कवि–कौशल से औचित्य का स्पर्श पाकर काव्य गुण का रूप धारण कर लेती है– 'विरोधः सकलोऽप्येष....गुणवीथीं विगाहते।' इस प्रकार अनौचित्य के कारण जो दोष होता है, वह औचित्य का संस्पर्श पाकर गुण बन जाता है। दोष निवारण में दण्डी ने कर्त्ता से आगे बढ़कर ग्राहक तक की बात की और कवि कौशल के साथ ग्राहक (सहृदय) की मनः स्थिति को भी कारण बताया।

3 यशोवर्मन पहले नाटककार थे जिन्होंने औचित्य शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम उपयुक्त के सन्दर्भ में किया। औचित्य सिद्धान्त का उन्होंने सार रूप में इस प्रकार उल्लेख किया –

'औचित्यं बचसां प्रकृत्यनुगतं....तैः एतावदेवास्तु नः।।'

इस श्लोक में वाणी औचित्य, पात्रोचित अवसरानुकूल रस पुष्टि का मार्मिक कथन है अर्थात् वाणी का औचित्य 'प्रकृति' के स्वभाव को ध्यान में रखने पर आता है। प्रकृति उत्तम, मध्यम, अधम होती है। स्वभाव के अनुरूप ही वचन विन्यास प्रशंसाप्रद होता है। रस की विभावादि सामग्री पुष्टि पात्र को ध्यान में रखकर होनी चाहिए। इन पंक्तियों में यशोवर्मन ने तीन मुख्य बातें कही–

(1) नाटक में वचनों का औचित्य होना चाहिए (2) उपयुक्त अवसर पर पात्रों के अनुकूल रस की पुष्टि होनी चाहिए और (3) कथा की योजना में कोई अतिक्रम नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से भरत के चिन्तन के साथ उनमें अद्भुत साम्य मिलता है। भरत की भांति उन्होंने भी समस्त नाटकीय तत्वों की सफल योजना का एकमात्र आधार औचित्य को ही माना है।

4 वामन का दोष विवेचन पूर्ववर्ती आचार्यों की परम्परा पर आधारित है। उन्होंने यह नहीं बताया कि अमुक स्थिति में दोष गुण हो जाते हैं। भामह से सहमत होते हुए उन्होंने कुछ प्रयोगों को निषिद्ध एवं कुछ को प्रयोज्य बताया। जैसे–हन् धातु का गत्यर्थक प्रयोग, पदारम्भ में 'खलु' का प्रयोग, अति प्रयुक्त लक्षणा का बारम्बार प्रयोग, शिव–पार्वती युग्म के लिए शिवौ, 'रुद्रौ' का प्रयोग और 'मार्ग' धातु का 'खोजने' के अर्थ में आत्मनेपद का प्रयोगों को अनुचित, व्यर्थ अथवा निषिद्ध माना। प्रयोज्य प्रयोगों में उन्होंने कुछ प्रयोग गिनाये जैसे–श्लोक के चरणान्त में हल् हो, पदान्त में लघु गुरू की व्यवस्था हो, विशेष्य की प्रतीति कराने के लिए विशेषण का प्रयोग, अत्यन्त रूढ़ देशज शब्दों को संस्कृत में प्रयुक्त करना, स्तन चक्षु आदि का नित्य द्विवचन में प्रयोग और अधर बिम्ब का प्रयोग ही उचित है।

5 महिमभट्ट ने पांच शब्द–दोषों विधेयाविमर्श, प्रक्रम भेद, क्रम भेद, पुनरुक्ति एवं अधिक पदत्व द्वारा अनौचित्य का विवेचन किया। अनौचित्य को वे काव्य का सर्वातिशायी दोष मानते हैं। अनौचित्य के दो रूप उन्होंने विवेचित किये–अन्तरंग और बहिरंग। अन्तरंग का सम्बन्ध काव्य के आन्तरिक तत्व रस से है और बहिरंग का रसेतर बाह्य उपकरणों के साथ सम्बन्ध है। अर्थ–विषयक अनौचित्य अन्तरंग अनौचित्य और शब्द–विषयक अनौचित्य बहिरंग अनौचित्य ही है। अन्तरंग अनौचित्य अर्थात् मुख्यभाव और रस के बीच सम्बन्ध के अभाव को ही वे अनौचित्य कहते हैं। औचित्य के बिना वे रसास्थिति को सम्भव ही नहीं मानते।

6 रुद्रट ने पहली बार विभिन्न काव्यांगों में औचित्य के निर्वाह की बात कही। उनका महत्व इस दृष्टि से भी है कि उन्होंने औचित्य का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में उल्लेख किया है। काव्य के सन्दर्भ में काव्यार्थ के अनुरूप क्रिया, पद एवं अन्य सामग्री के प्रयोग पर बल दिया। केवल वक्ता का औचित्य ही रक्षित हो, यह पर्याप्त नहीं वरन् विषय का भी अपना महत्व है और तदनुरूप सारी सामग्री की नियोजना होनी चाहिए। काव्य–समीक्षा में वक्ता के औचित्य पर सर्वप्रथम विचार रुद्रट ने किया। उन्होंने उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन प्रकार के वक्ताओं के बीच परस्पर सम्बोधन

के औचित्य के निर्वाह की बात कही। अन्यथा वक्ता संबंधी औचित्य का भंग वक्तृ विषयक अनौचित्य माना जायेगा। रुद्रट ने ग्राम्य दोष का विचार करते हुए कहा कि जो पद जहाँ अनुचित हो वहाँ वह ग्राम्य है। यह ग्राम्यता वस्तु–विषयक भी हो सकती है और वक्तृ विषयक भी। जो पद वस्तु के लिए तो उचित है, पर वक्ता के लिए अनुचित है वह वक्तृ विषयक ग्राम्य दोष है जो पदवस्तु के लिए अनुचित है वहाँ विषय विषयक ग्राम्य दोष होता है। उन्होंने इस दोष के समाधान हेतु बताया कि अर्थ विशेष या विभक्ति विशेष के सम्बन्ध या सम्पर्क से ग्राम्य पद अपना अनौचित्य त्याग देते हैं और उचित भाव का संवहन करने लगते हैं। अन्य दोष भी किस स्थिति में अपने दोष का परित्याग कर योग्य, उचित बन जाते हैं इसका भी उन्होंने निरूपण किया। अलंकारवादियों की परम्परा के रुद्रट ही ऐसे हैं जिन्होंने दोषों के रूप का अनौचित्य विवेचित किया। 'विरस' के विवेचन में उन्होंने चर्चा की कि अन्य रस के प्रसंग में यदि अनवसर पर प्रयुक्त (क्रमापेत) रस की सामग्री आ जाए तो वहाँ विरसता होती है। रुद्रट ने अपने दोष–विवेचन में ऐसे स्थलों की ओर संकेत किया जहां दोष भी गुण बन जाते हैं।

7 आनन्दवर्द्धन ने प्रबन्ध की रस व्यंजकता पर विचार करते हुए प्रासंगिक रूप से विभावादि के अनौचित्य की बात कही। उन्होंने रस का परम रहस्य औचित्य को स्वीकारा– 'प्रसिद्ध औचित्य बन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा।' उनके अनुसार औचित्य का विस्तार केवल काव्य तक ही नहीं, छन्दरहित गद्यात्मक रचनाओं में भी होता है। यहाँ तक कि कथात्मक साहित्य में भी औचित्य के निर्वाह की अपेक्षा होती है। इस प्रकार औचित्य–निर्वाह से गद्य और पद्य दोनों सुशोभित होते हैं। उन्होंने रस–प्रकाशन का औचित्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हुए प्रबन्धगत रस के पांच औचित्य (हेतु) का उल्लेख किया –

क. विभाव, स्थायी भाव, अनुभाव और संचारी भाव के औचित्य से सुन्दर ऐतिहासिक अथवा कल्पित कथा–शरीर का निर्माण।

ख. ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त कथा के रस के प्रतिकूल अंशों का त्याग और अभीष्ट रसानुकूल नवीन कल्पना करके कथा का संस्कार करना।

ग. केवल शास्त्रीय विधान के पालन से नहीं बल्कि रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से ही सन्धि और संध्यांगों की रचना की जाए।

घ. यथावसर रसों के उद्दीपन, प्रशमन की योजना और विश्रान्त होते हुए प्रधान रस का अनुसंधान वांछनीय है।

ङ़. रसानुरूप अलंकार योजना का निर्वाह।

इन रस हेतुओं (औचित्य) के साथ आनन्दवर्द्धन ने छः रस अहेतुओं (अनौचित्य) की भी चर्चा की–

अ. रस भंग की स्थिति तक उत्पन्न होती है जबकि इस के विभावादि वर्णन के तुरन्त पश्चात् किसी विरोधी रस के विभावादि का वर्णन हो।

ब. जब प्रस्तुत रस की विरोधी वस्तुओं का विस्तृत वर्णन किया जाये। उदाहरणार्थ श्रृंगार रस के साथ अलंकार चमत्कार के प्रति मोह अनुचित होगा।

स. अवसर न होने पर भी प्रस्तुत रस को विच्छिन कर दिया जाये अथवा अनावश्यक विस्तार वर्णन किया जाये।

य. रस–परिपुष्टि के पश्चात् भी पुनः अकारण ही रस को उदीप्त करने पर रस अनौचित्य होता है।

र. व्यवहार औचित्य के अभाव में भी रस भंग हो जाता है।

ल. काव्य –वृत्तियों का विषयानुरूप प्रयोग न करने से भी रस भंग की स्थिति उत्पन्न होती है।

8 कुन्तक के अनुसार काव्य का प्राण तत्व वक्रता है किन्तु वक्रता का मूलाधार औचित्य ही है। 'उचिताभिधानजीवितत्त्वाद्' अर्थात् यथानुरूप कथन अथवा वक्रता ही जीवन है। साहित्य शब्द का आधार औचित्य है। शब्द और अर्थ का उचित सहभाव ही उन्हें मान्य है। वक्रता के भेदोपभेद का आधार स्वीकार किया। वक्रता आादकारी है किन्तु औचित्य के अभाव में किसी प्रकार का आह्लाद सम्भव नहीं। कुन्तक की वर्णवक्रता ही वर्णोचित्य है। वाक्य वक्रता को व्यवहारौचित्य कहा जा सकता है। प्रबन्ध वक्रता में प्रबन्ध, रस, नाम–विषयक औचित्य समाविष्ट हो जाते हैं। व्यवहार वक्रता को व्यवहारौचित्य और स्वभाव वक्रता को स्वभावौचित्य कहा जा सकता है। लिंग–वक्रता को लिंगौचित्य एवं काल–वक्रता को कालौचित्य कहा गया है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि उक्तिगत वक्रता के उच्छलन के लिए वक्ता का हृदय रससिक्त होना चाहिए। रसप्रवण कवि की वाणी में स्वयं उत्कर्ष आ जाता है। इस प्रकार काव्य का जीवित वक्रता, वक्रता का जीवित रस और रस का जीवित औचित्य अपने आप हो जाता है। जिस प्रकार आनन्दवर्द्धन ने रस का परम रहस्य औचित्य को बताया उसी प्रकार कुन्तक ने भी कहा है।

औचित्य सिद्धान्त की इस पृष्ठभूमि के पश्चात् क्षेमेन्द्र के औचित्य सम्बन्धी विवेचन पर विचार किया जा सकता है। उनका महत्त्व उद्‌भावक के रूप में उतना नहीं है जितना इस दृष्टि से कि उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा किये गये चिन्तन को व्यवस्थित रूप दिया। क्षेमेन्द्र ने औचित्य पर मौलिक ढंग से खासतौर पर औचित्य को ध्यान में रखकर चर्चा की जबकि पूर्ववर्ती आचार्य अनौचित्य अर्थात् क्या अनुचित है यहीं तक सीमित रहते थे। क्षेमेन्द्र रसवादी आचार्य हैं इसलिए वे मानते हैं कि गुण, रीति, वक्रोक्ति आदि विभिन्न काव्यांगों की योजना ऐसी होनी चाहिए कि वे सभी मिलकर रसास्वादन में सहायक हों। इन काव्यांगों की योजना दोषपूर्ण होगी तो रसास्वादन में व्यवधान उत्पन्न होगा। सहजता और स्वाभाविकता को उन्होंने काव्य और नाटक के लिए उचित माना जिससे पाठक और सहृदय की आस्था उत्पन्न हो। काव्य के विभिन्न अंगों के साथ औचित्य का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं –

'औचितस्य.................... गुणा गुणाः।।'

इस लम्बे उद्धरण का अभिप्राय है कि काव्य का चमत्कार और चारूता तथा औचित्य में कार्य–कारण का सम्बन्ध होता है। औचित्य कारण है और चमत्कार तथा चारूता कार्य हैं जो औचित्य नामक तत्व से उत्पन्न होते हैं। काव्य के अन्य अंग, गुण, अलंकार का तो जीवन ही औचित्य है। इस के अतिरिक्त अन्य काव्य तत्वों के साथ औचित्य का सम्बन्ध शरीर तथा शरीरी का–सा है और इस औचित्य का आत्मा और जीवन का सम्बन्ध है। औचित्य रससिद्ध काव्य की जीवन शक्ति है। अलंकारों के प्रयोग में औचित्य का निर्वाह होना चाहिए अन्यथा काव्य–गुण भी गुण नहीं रहते। यदि अलंकारों और गुणों के प्रयोग में औचित्य की उपेक्षा की जाती है तो यही गुण और अलंकार काव्य की शोभावृद्धि नहीं करते, वरन् उसे हास्यास्पद बना देते हैं। उदाहरणार्थ–

'कण्ठे मेखलया.....नालंकृतिर्नो गुणाः।'

अर्थात् गले में मेखला, कटि में हार, हाथों में नुपूर और पैरों में केयूर (बाजूबन्द) पहनने तथा शरणागत के शौर्य दिखाने एवं शत्रु के प्रति करुणा का प्रदर्शन करने से किसकी हंसी नहीं उड़ती ? इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने औचित्य सम्बन्धी अवधारणा की व्यावहारिक उपादेयता का भी संकेत दिया। अभी तक आलोचक एवं समीक्षक की दृष्टि से औचित्य की चर्चा नहीं हुई थी। क्षेमेन्द्र ने सर्वप्रथम बताया कि किसी भी कृति की सफलता जांचने हेतु उसके विभिन्न मार्मिक अवयवों में निहित औचित्य की समीक्षा आलोचक को करनी होगी। आलोचक यह देखे कि गुण, अलंकार अपने स्थान पर उचित है या नहीं। अंग–अंगी का सम्बन्ध संतुलित है या नहीं। गुण–गुणी तथा अवयव–अवयवी संतुलन में है या नहीं।

10.3.1 स्व मूल्यांकन :

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में आपने औचित्य सम्प्रदाय के आचार्य एवं उनकी स्थापनाओं का अध्ययन किया है। अब आप निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर एवं रिक्त स्थान भरकर इस अध्याय से प्राप्त ज्ञान का मूल्यांकन करें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा। यदि आप इस मूल्यांकन में असमर्थ हैं तो आपको निराश होने की आवश्यकता नहीं। आप इस अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

स्व मूल्यांकन : क – सही / गलत

1) नाटक में वचनों का औचित्य होना चाहिए। (   )
2) व्यवहार औचित्य के अभाव में रस भंग नहीं होता है। (   )
3) काव्य–वृत्तियों का विषयानुरूप प्रयोग न करने से भी रस भंग की स्थिति उत्पन्न होती है। (   )
4) कथा की योजना में कोई अतिक्रम नहीं होना चाहिए। (   )
5) यथावसर रसों के उद्दीपन, प्रशयन की योजना और वितान्त होते हुए प्रधान रस का अनुसंधान वांछनीय है। (   )

स्व मूल्यांकन : ख रिक्त स्थान भरो

1) –––––––––––––––ने पांच शब्द–दोषों द्वारा अनौचित्य का विवेचन किया।
2) विभाव, स्थायी भाव, अनुभाव और ––––––––––––––––के औचित्य से सुन्दर ऐतिहासिक अथवा कल्पित कथा शरीर का निर्माण है।
3) ––––––––––ने चारुता की दृष्टि से औचित्य पर धनात्मक और निषेधात्मक दोनों पक्षों का विचार किया।
4) –––––––––––––––का दोष विवचेन पूर्ववर्ती आचार्यों की परम्परा पर आधारित है।
5) संस्कृत के आचार्यों में रुद्रट, आनन्दनवर्द्धन एवं –––––––––––ने औचित्य का प्रत्यक्ष विवेचन किया।

10.4 सारांश

क्षेमेन्द्र पूर्ववर्ती विचार ही औचित्य के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण हैं। क्षेमेन्द्र का महत्व दो दृष्टियों से है कि उन्होंने औचित्य के सम्बन्ध में विशेषरूपेण चर्चा की और दूसरे यह कि अब तक के औचित्य चिन्तन को व्यवस्थित किया। इसके बाद का औचित्य सम्बन्धी विकास अत्यन्त संक्षिप्त है। केवल पण्डितराज जगन्नाथ दिखाई पड़ते हैं, जिन्होंने गुण–व्यंजक वर्णों एवं रचना प्रकारों का सविस्तार वर्णन किया। किस रस में कौन–सा गुण है और किस गुण की अभिव्यक्ति के लिए किस प्रकार की वर्ण योजना समुचित है इसका अत्यन्त सूक्ष्म विवरण वहां मिलता है। आधुनिक युग के विचारकों ने औचित्य विचार किसी ग्रन्थाकार रूप में नहीं किया वरन् हिन्दी निबन्धों एवं आलोचना के माध्यम से समीक्षक की दृष्टि से अप्रत्यक्ष रूप में औचित्य–अनौचित्य विचार मिलता है। इन प्रमुख विचारकों में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. नगेन्द्र प्रभृति विद्वानों के नाम गिने जा सकते हैं। किन्तु इतना तो सर्वविदित ही है कि संस्कृत

काव्यशास्त्र के आचार्यों की तुलना में इनका महत्व सूक्ष्म है तथापि आज के समीक्षक और आलोचक की दृष्टि विकास हेतु इन विद्वानों द्वारा अभिव्यक्त औचित्य विषयक विचार प्रशंसनीय कहे जा सकते हैं।

10.5 कठिन शब्द

1) प्रभृति– आदि, इत्यादि।
2) अभिव्यक्त– प्रकट किया हुआ।
3) सूक्ष्म– बारीक
4) समीक्षक– समीक्षा करने वाला, सम्यक रूप से देखने वाला।
5) आलोचना – गुण–दोष की परख

10.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. औचित्य सम्प्रदाय विषयक विभिन्न आचार्यों के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिए।

2. आचार्य क्षेमेन्द्र के सिद्धान्तों का आकलन कीजिए।

3. आचार्य यशोवर्मन और भामह के औचित्य सम्बन्धी सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।

10.7 उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन : क

1. सही 2. गलत 3. सही 4. सही 5. सही

स्व–मूल्यांकन : ख

1. महिमभट्ट 2. संचारी भाव 3. भामह 4. वामन 5. क्षेमेन्द्र

10.8 पठनीय पुस्तकें

(1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा, हरियाणा ग्रंथ अकादमी पंचकूला, 2013

(2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2023

(3) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय, वाणी प्रकाशन, 2024

(4) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2019

रस–निष्पत्ति और साधारणीकरण

रूपरेखा

11.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

11.2 प्रस्तावना

11.3 रस–निष्पत्ति और साधारणीकरण

11.3.1 रस–निष्पत्ति की प्रक्रिया

11.3.2 साधारणीकरण

11.3.3 सहृदय की अवधारणा

11.3.4 स्व–मूल्यांकन

11.4 सारांश

11.5 कठिन शब्द

11.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

11.7 उत्तर कुंजी

11.8 पठनीय पुस्तकें

11.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों ! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको रस–निष्पत्ति की प्रक्रिया, साधारणीकरण व सहृदय की अवधारणा से परिचित करवाना है।

प्रस्तुत पाठ के अध्ययनोपरान्त आप

– रस–निष्पत्ति के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

– रस–निष्पत्ति की प्रक्रिया से अवगत हो सकेंगे।

– साधारणीकरण के सिद्धान्त को जान सकेंगे।

– साधारणीकरण से संबंधित विभिन्न विद्वानों के मतों से अवगत हो सकेंगे।

– सहृदय की अवधारणा को समझ सकेंगे।

11.2 प्रस्तावना

'रस–निष्पत्ति' पर विचार करते समय हमारी दृष्टि सबसे पहले 'रस' के अर्थ पर पड़ती है। भारतीय वाङ्मय में 'रस' शब्द को अनेक रूपों, अनेक अर्थों में देखा गया है। पदार्थ, आयुर्वेद, साहित्य, भक्ति आदि के अर्थों में विश्लेषित करते हुए प्रायः यह माना गया कि किसी भी रूप में विचार करें लेकिन उन सबसे 'आस्वादन' का भाव छिपा हुआ मिलेगा। उदाहरणार्थ भक्ति–रस का संबंध अलौकिक आनन्द से है; साहित्य–रस का संबंध काव्यानन्द से है; आयुर्वेद

के स्तर पर इसे विशिष्ट चिकित्सा के रूप में देखा जाता है तो पदार्थ पदार्थ के रस का संबंध शुद्ध रूप से आस्वादन से जुड़ा है। आस्वादन की क्रिया सभी जगह है–इनका संबंध जरूर अलग–अलग समय पर भिन्न–भिन्न रूपों में कभी कर्मेन्द्रियों से जुड़ता है तो कभी ज्ञानेन्द्रियों से। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि 'रस' का संबंध 'आस्वादन' से जुड़ा है और 'आस्वादन' के कई कोण, कई आधार होते हैं और हो सकते हैं। इसी को ध्यान में रखते हुए भारतीय आचार्यों ने 'रस–निष्पत्ति' की प्रक्रिया पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है तथा अपने–अपने मतों को स्थापित किया है।

11.3 रस–निष्पत्ति और साधारणीकरण

11.3.1 रस–निष्पत्ति की प्रक्रिया

इसमें कोई दो राय नहीं कि भारतीय काव्यशास्त्र का मूल आधार 'रस' है और यह किसी–न–किसी रूप में सभी क्षेत्रों में अपना महत्त्व रखता है। इसे प्राणतत्त्व के रूप में भी माना गया है। 'नाट्यशास्त्र' के रचयिता भरतमुनि ने तो यहाँ तक माना है कि रस–रहित काव्य की कल्पना इसलिए नहीं की जा सकती क्योंकि रस के अभाव में अर्थ की प्राप्ति संभव नहीं है। 'नाट्यशास्त्र' में वे लिखते हैं–

'नहि रसादश्ते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।'

सच तो यह है कि आचार्य भरत ही 'रस–सिद्धांत' के मूल प्रवर्तक हैं। वे पहले आचार्य हैं जिन्होंने 'रस–निष्पत्ति' की प्रक्रिया पर अनेक रूपों में विचार करते हुए यह सूत्र दिया कि–

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पतिः।'

इस प्रकार वे मानते हैं कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से ही इस की निष्पत्ति होती है। इस आधार वाक्य में 'संयोग' एवं 'निष्पत्ति' शब्द ही खासे विवाद वाले बने और इन्हीं शब्दों को लेकर बाद के आचार्यों ने रस–निष्पत्ति की प्रक्रिया पर अनेक सवाल–जवाब खड़े किए। लेकिन यहाँ पर यह जरूरी है कि पहले हम भरत के इस सूत्र वाक्य के साथ उनके उन विश्लेषणों को भी देख लें जिसे उन्होंने अपने मत को प्रमाणित करने के लिए प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं कि–

'यथा नानाव्यंजनौषधिद्रव्य संयोगाद्रसनिष्पत्तिः
तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्ति।'

तात्पर्य यह कि 'जिस प्रकार व्यंजन और औषधि–द्रव्यों के संयोग से रस निष्पन्न हुआ करता है, वैसे ही नाना भावों के इकट्ठे होने पर रस निष्पन्न हो जाता है।' वे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि गुड़ आदि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से जैसे छय रस (षड्–रस) बनते हैं, उसी प्रकार स्थायी भाव नानाभावों से युक्त होकर रस बनते हैं–

'यथा गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधीभिश्च षड़रसा निर्वर्त्यन्ते,
एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।'

आचार्य भरत का यह विवेचन रस से जुड़े अनेक प्रश्नों पर एक साथ प्रकाश डालता है। 'रस–निष्पत्ति' पर विचार करते समय भरत के सामने दो महत्त्वपूर्ण सवाल थे – (1) 'रस इति कः पदार्थः ?' और (2) कथमास्वाद्यो रसः? भरत का मानना है कि आस्वाद आना ही रस है तथा आस्वाद की अपनी एक प्रक्रिया होती है। प्रक्रिया पर विचार करते हुए उन्होंने कहा कि जैसे सहृदय लोग भाँति–भाँति के व्यंजनों से पके हुए अन्न को खाते हुए रसों का स्वाद प्राप्त करते हैं और प्रसन्न भी होते हैं वैसे ही दर्शक लोग नाना भावों के अभिनय (नाट्य) से व्यंजित तथा वाणी, अंग और

सत्त्व से मिले हुए स्थायी भावों का आस्वाद प्राप्त करते हैं। और इसीलिए ये नाट्य–रस हैं। यहाँ भरत के सामने एक और बड़ा सवाल खड़ा होता है कि–

'किं रसेभ्यो भावानामभिनिवशर्ङ्गतिरुताहो भावेभ्यो रसनामिति?'

अर्थात्–रसों से भाव बनते हैं या भावों से रस ? जाहिर है कि लोगों की धारणाएं अलग–अलग होंगी लेकिन भरत अपने तर्कों के आधार पर दोनों की पारस्परिक सिद्धि को ही महत्त्व देते हैं। वे मानते हैं कि जैसे बहुत प्रकार के द्रव्यों से व्यंजन अभिव्यक्त होता है, वैसे ही भाव भी रसों को अभिव्यक्त करते हैं। वे लिखते हैं–

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्।।
व्यंजनौषधि संयोगाद्यथा न स्वादुता भवेत्।
एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम्।।
यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वें तेषु भावा व्यवस्थिताः।।

अर्थात्–रस भावहीन नहीं होता, भाव रसहीन नहीं हुआ करता। अभिनय में उसकी परस्पर सिद्धि होती है। व्यंजन और औषधि का संयोग जैसे अन्न को सुस्वादु बना देता है, वैसे भाव और रस भी एक दूसरे को अभिव्यक्त करते हैं। जैसे बीज से वृक्ष होता है और वृक्ष से फूल–फल होते हैं, वैसे ही सभी रस मूल होते हैं – उनमें भाव व्यवस्थित होते हैं।

भरत की इस व्याख्या में दो बातों पर विशेष रूप से बल है – एक 'संयोग' और दूसरा 'निष्पत्ति'। इसलिए इन पर विचार करना जरूरी है। वस्तुतः भरत ने जहाँ 'संयोग' शब्द का प्रयोग किया है वहीं पर उन्होंने यह भी कहा है कि – "नाना भावोपाहित अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।" यहां पर 'संयोग' शब्द को 'उपहित' अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। अर्थात् पास आने या समीप होने पर ही रस की निष्पति होती है। इसी के साथ 'निष्पत्ति' के मूल अर्थ को देखें। 'निष्पत्ति' का अर्थ है उत्पत्ति, परन्तु भरत ने इसे 'अभिव्यक्ति' के अर्थ में प्रयुक्त किया है। उन्होंने लिखा है –

"एवमेते काव्यरसाभिव्यक्ति हेतव एकोनपंचाशत् भावाः प्रत्यवगन्तव्याः"।

अर्थात्–काव्य रस की अभिव्यक्ति के कारण रूप उनचास भाव जानने चाहिए। इनमें आठ स्थायी भाव हैं, तैंतीस व्यभिचारी भाव हैं और आठ सात्विक भाव हैं। और इनके मिश्रण से ही रस की निष्पत्ति होती है।

भरत–सूत्र में जिस स्थायी भावादि का उल्लेख किया गया है, उन्हें भी आचार्य ने स्पष्ट किया है। उनके इस स्पष्टीकरण को देखना आवश्यक है। 'नाट्यशास्त्र' में कहा है – 'विभाव से लाया हुआ जो अर्थ अनुभाव से तथा वाणी, अंग और सात्विक भाव के अभिनयों से प्रतीत होता है, उसका नाम भाव होता है। वाणी अंग और मुख के राग से, सत्त्व और अभिनय से कवि के आन्तरिक भाव को बताने वाला भाव कहा जाता है। .... विभाव विशेष ज्ञान का अर्थ रखता है – विभाव, कारण, निमित्त, हेतु–ये पर्यायवाचक हैं। वाणी, अंग और अभिनय के आश्रय वाले बहुत से अर्थ इनसे विभावित होते हैं, अतः इनका नाम विभाव है। ... वाणी और अंगों के अभिनय से वाणी और अंग–उपांग से संयुक्त अर्थ जिससे अनुभावित होता है, उसका नाम अनुभाव माना गया है। ... इनमें आठ स्थायी भाव हैं – रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा एवं विस्मयश् तैंतीस व्यभिचारी भाव हैं और आठ सात्विक भाव हैं – स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वर–भंग, वेपथु (कम्प), वैवर्ण्य, अश्रु एवं प्रलय।' स्पष्टतः भरत मत के अनुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों

के संयोग से ही रस की निष्पत्ति होती है और इस निष्पत्ति में अनेक कारण होते हैं जो सहायक ही भूमिका निभाते हैं।

रस क्या है ? आस्वाद क्या है ? रस का आस्वाद कैसे होता है ? रसों से भाव बनते हैं या भावों से रस ? स्थायी भाव क्या है ? विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव किसे कहते हैं ? भावों का रस में विनियोग किस रूप में होता है ? जैसे अनेक सवालों का समाधान हम 'नाट्यशास्त्र' के अन्तर्गत पाते हैं। लेकिन परवर्ती आचार्यों ने भरत–सूत्र की इस व्याख्या को इसलिए पूर्णतया स्वीकार नहीं किया क्योंकि उनके बीच 'संयोग' एवं 'निष्पत्ति' के अर्थ तथा उसकी प्रक्रिया के विषय में पर्याप्त मत–वैभिन्न रहा है। यही कारण है कि परवर्ती आचार्यों ने भरत–सूत्र के इन्हीं दो शब्दों को लेकर अपनी–अपनी व्याख्या और अपने–अपने मत स्थापित किए। इन व्याख्याकारों में भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त का योगदान सबसे अधिक है।

'रस–निष्पत्ति' विषय भरत–सूत्र की व्याख्या करते हुए मूल समस्या यही खड़ी हुई कि 'रस–निष्पत्ति' होती कहाँ हैं ? और चार बिन्दु सामने आये –

(1) नाटककार में (2) मूलपात्र में (3) नाटक के नटादि पात्रों में या (4) सहृदय प्रेक्षक में

आचार्य भरत ने तो स्पष्टतः नट अथवा रंगमंच को रसाश्रय के रूप में माना है। अर्थात् नाटक में रंगमंच ही वह आधार है जिस पर विभावादि का संयोग घटित होता है। अतः रस की सृष्टि भी वहीं होती है और तभी सहृदय प्रेक्षक उसका आस्वादन करते हैं। भरत की दृष्टि में सहृदय प्रेक्षक 'नाना भावों के अभिनय (नाटय) से व्यंजित तथा वाणी, अंग और सत्त्व से मिले हुए स्थायी भावों का आस्वाद प्राप्त करते हैं।" तात्पर्य यह कि भरत रस को आस्वाद्य मानते हुए नट के अनुभावों द्वारा प्रदर्शित स्थायी भाव को ही रस स्वीकार करते हैं। कहा जा सकता है कि भरत की दृष्टि में 'संयोग' का निहितार्थ है – विभावादि का स्थायी भावों के साथ मेल तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ है– इन सबके मेल से निर्मित होने वाला रस। स्पष्टतः यहां पर कर्त्ता नट होता है जिसका संपूर्ण क्रियाव्यापार रंगमंच पर होता है। अतः 'रस –निष्पत्ति' उसी नट में होती है, रंगमंच पर होती है। वह माध्यम बनता है और उसी के द्वारा प्रेक्षक को रस की अनुभूति होती है। यह व्याख्या नाटक को केन्द्र में रख कर की गयी है इसलिए इसे उसी परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए।

'रस–निष्पत्ति' विषयक भरत–सूत्र के पहले व्याख्याकार भट्ट लोल्लट हैं। इनका कोई स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं लेकिन आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' तथा 'ध्वन्यालोकलोचन' में उनके रस–संबंधी मतों को उद्धृत किया है। और आचार्य मम्मट के 'काव्य प्रकाश' में कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जो भट्टलोल्लट के मत के रूप में जाने जाते हैं। 'अभिनवभारती' में लोल्लट के मत को उद्धृत करते हुए कहा गया है –

'विभावादि के साथ (जब) संयोग हो जाता है अर्थात् (जब विभावादि के साथ) स्थायी भाव का संयोग हो जाता है (तब) उससे रस–निष्पत्ति होती है। उन (विभाव, अनुभाव और संचारी भावों) में विभाव स्थायी रूप चित्तवृत्ति की उत्पत्ति में कारण होते हैं। (अनुभाव वस्तुतः कार्यरूप होते हैं यहाँ प्रश्न यह है कि कार्यरूप अनुभावों का रस के कारणों में क्यों गिना दिया गया है ? इसका उत्तर दे रहे हैं।) यहाँ रसजन्य अनुभावों का कहना अभीष्ट नहीं है क्योंकि उन (रसजन्य अनुभावों) की गणना रस के कारण के रूप में करना उचित नहीं है। अपितु (कारण रूप में) भावों के अनुभाव ही (सन्निविष्ट हो सकते हैं)। व्यभिचारी भाव चित्तवृत्ति होते हैं। (स्थायी भाव भी चित्तवृत्ति रूप ही होते हैं नियमतः दो चित्तवृत्तियाँ एक साथ नहीं रह सकतीं।) यद्यपि चित्तवृत्ति होने के कारण व्यभिचारी भाव स्थायी भाव के साथ नहीं उत्पन्न हो सकते किन्तु यहाँ पर स्थायी भाव के संस्कार रूप में उनका कथन अभीष्ट है। इससे विभाव इत्यादि से उपचित स्थायी भाव ही रस होता है अनुपचित अवस्था स्थायी भाव होती है। (आशय यह है कि जब तक विभावादि

से स्थायी भाव का उपचय नहीं हो जाता तब तक वह स्थायी भाव कहलाता है और विभावादि से संयुक्त होकर उपचित होने पर रस बन जाता है) वह (स्थायी भाव) दोनों के अन्दर रहता है– मुख्य वृत्ति से अनुकार्य राम इत्यादि में और उन (रामादि) के रूपत्व के अनुसंधान के बल पर नट में।"

'ध्वन्यालोकलोचन' में भी लोल्लट के विचारों को प्रस्तुत किया गया है। वहाँ उनका मत है–

"पूर्वावस्था में जो स्थायी है वही व्यभिचारी के सम्पात इत्यादि के द्वारा परिपोष को प्राप्त होकर अनुकार्य में ही रस हो जाता है। नाट्यरस तो उसे कुछ लोग इसलिए कहते हैं क्योंकि नाट्य में उसका प्रयोग होता है।"

मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में लोल्लट के मत को उद्‌घृत करते हुए लिखा है –

"विभावों–ललनादि आलम्बन और उद्यानादि उद्दीपन कारणों से, रति आदि (स्थायी) भाव उत्पन्न हुआ; (रति आदि की उत्पत्ति के) कार्यभूत कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि अनुभावों से प्रतीति के योग्य किया गया; और सहकारी रूप निर्वेद आदि व्यभिचारी भावों से पुष्ट किया गया, मुख्य रूप से अनुकार्य रूप राम आदि में और उनके स्वरूप के अनुसंधान से नट में प्रतीयमान इत्यादि स्थायी भाव ही रस (हो जाता) है। यह भट्टलोल्लट का मत है।"

इन तीनों उद्धरणों के आधार पर डॉ नगेन्द्र ने निम्नलिखित तथ्यों को सामने रखा है। वे लिखते हैं–

1. संयोग का अर्थ (भट्टलोल्लट के यहां) वही है जो भरत ने किया है – अर्थात् स्थायी भाव के साथ संयोग।
2. स्थायी भाव का आश्रय है अनुकार्य–रामादि।
3. सीतादि आलम्बन उसे अनुकार्य के चित्त में ही उत्पन्न करते हैं।
4. अनुभाव का अर्थ रसजन्य चेष्टाएँ नहीं हैं।
5. व्यभिचारी स्थायी के सहभावी होते हैं (संस्कार रूप में, युगपत् स्थिति में नहीं)।
6. रस मूलतः एवं मुख्यतः अनुकार्यगत होता है और गौण रूप में अनुसंधान के बल से नटगत भी।

लोल्लट के इस मत में 'अनुसंधान' पर तो बल दिया ही गया है साथ ही 'प्रतीयमान' को भी महत्व दिया गया है। अतः इन पर विचार करना जरूरी है। डॉ. नगेन्द्र ने इस संदर्भ में कहा है कि–

"अनुसंधान शब्द व्याख्यापेक्षी है। अनुसंधान के संस्कृत आचार्यों ने अनेक अर्थ प्रस्तुत किए हैं – (1) आरोप (2) अभिमन (3) योजन। इनके आधार पर अभिनव द्वारा उद्धृत (लोल्लट के) वाक्य में आरोप का अर्थ होगा नट का अपने में 'रामत्वादि' का आरोप, अभिमान का अर्थ होगा नट का उस समय के लिए अपने को रसादि समझना और योजन या योजना का अर्थ होगा 'पहले जो मैं नट था वहीं अब मैं राम हूँ।...ये तीनों शब्द तादात्मय के मात्रा–भेद के ही द्योतक हैं।"

इसी प्रकार 'प्रतीयमान' की चर्चा करते हुए माना गया कि रामादि अनुकार्यों के स्वरूप के अनुसंधान से नट में प्रतीयमान स्थायी भाव ही रस हो जाता है। अर्थात् नट में रस की प्रतीति सामाजिक को होती है और शायद अनुसंधान का कर्त्ता भी सामाजिक ही है (यद्यपि अनुसंधान की संगति यहां नट के साथ बैठ सकती है)। डॉ. नगेन्द्र ने इसे तीन रूपों में प्रस्तुत किया है –

1. सामाजिक नट पर राम का आरोप कर उसमें रामगत रस की प्रतीति कर लेता है।
2. सामाजिक नट में राम का अभिमान कर रामगत रस की प्रतीति कर लेता है। और

3. अनुसंधान का योजनापरक अर्थ सिद्ध नहीं होता क्योंकि 'नट ही राम है' इस प्रकार का शुद्धानुसंधान हो जाने पर नटगत रस 'प्रतीयमान' नहीं रहेगा 'सिद्ध हो जाएगा, जबकि उपर्युक्त मत का वैशिष्ट्य ही रस की 'प्रतीयमानता' पर निर्भर है।

भट्टलोल्लट के इस मत के विवेचन से यह स्पष्ट सिद्ध है कि लोल्लट की दृष्टि में रस मूलतः अनुकार्यगत होता है। अनुकर्त्ता (नटादि) अनुकार्य (रामादि) का स्वयं पर आरोप करके उसके भावों का अभिनय करता है और उस अभिनय की प्रक्रिया के दौरान सामाजिक या प्रेक्षक अनुकर्त्ता पर अनुकार्य का आरोप करके उससे रस की अनुभूति प्राप्त करता है। इसी आधार पर लोल्लट के मत को आरोपवाद के रूप में जाना जाता है। इनकी व्याख्या में 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' माना गया है इसीलिए इनके मत को 'उत्पत्तिवाद' भी कहा जाता है।

'रस–निष्पत्ति' की प्रक्रिया से संबंधित एक उदाहरण के माध्यम से इसे और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है, जिसे डॉ. नगेन्द्र ने लोल्लट प्रसंग में ही उद्धृत किया है। इसमें दुष्यंत एवं शकुंतला की कथा के आधार पर रस–परिपाक–प्रक्रिया को उद्‌घाटित किया गया है। वे लिखते हैं –

"लोल्लट के अनुसार लोकजीवन में कण्व के आश्रम की रमणीक पार्श्वभूमि में अपूर्व सुंदरी शंकुतला का साक्षात्कार कर दुष्यंत के चित्त में सहसा रतिभाव उत्पन्न हो गया। (यह रतिभाव यद्यपि दुष्यंत के चित्त में वासना–रूप में विद्यमान था, फिर भी चूँकि कारणभूत शकुंतला के सम्पर्क से ही इसका उदय हुआ, इसलिए एक प्रकार से इसकी उत्पत्ति ही माननी चाहिए।) आलम्बन–रूप शकुंतला के अनिन्ध लावण्य एवं आकर्षक व्यवहार से वन–प्रदेश की उस रमणीय भूमिका में (उद्दीपन विभाव के द्वारा) आश्रय रूप दुष्यंत के चित का यह स्थायी रतिभाव और भी उद्दीप्त हो गया। दुष्यंत के अंगों में स्पंदन होने लगा–रोमांच से शरीर पुलकित हो गया (अनुभाव)। एक ओर शकुंतला के रूप लावण्य से उसके चित्त में हर्ष का उद्रेक हुआ, दूसरी ओर वरणयिता आदि के प्रश्न को लेकर चिन्तादि व्यभिचारी भाव अनायास ही संचरण करने लगे, यद्यपि इनसे रतिभाव का क्षय न होकर पोषण ही हुआ। इस प्रकार दुष्यंत–रूप आश्रय के हृदय में शकुंतला–रूप आलंबन के द्वारा जो रति–स्थायी भाव उत्पन्न होकर शकुंतला के हावभाव तथा वातावरण के प्रभाव से उद्दीप्य हुआ था, वह दुष्यंत के पुलक, रोमांच आदि अनुभावों से प्रकट होकर हर्ष, चिन्ता आदि व्यभिचारी भावों द्वारा पुष्ट हो गया – अर्थात् इस प्रक्रिया से उस स्थायी भाव का पूर्ण परिपाक हो गया और वह 'रस' बन गया।"

निस्संदेह नाटक में इस प्रसंग का नट–नटी के द्वारा अनुकरण किया जाता है। नट का व्यवहार ऐसा होता है जैसे वह दुष्यंत हो और नटी को शकुंतला के रूप में देखता है, जिसके फलस्वरूप उसके (नट के) चित्त में रतिभाव का उद्‌गम होता है तथा रोमांचादि के उदय के साथ ही उसके (नट के) मन में हर्ष एवं चिन्ता जैसे भावों का संचरण होने लगता है। इस प्रकार नट–नटी के इस अनुकरण में स्थायी भाव है, विभाव हैं, अनुभाव और व्यभिचारी भावों की भी उपस्थिति है। और यहां पर भी 'स्थायी भाव विभाव से उद्‌भूत होकर और अनुभावों तथा व्यभिचारियों से क्रमशः व्यक्त एवं परिपुष्ट होकर 'रस' में परिणत हो जाता है।' अन्तर सिर्फ यह है कि प्रथम प्रसंग में जो कि वास्तविकता से युक्त है उसमें दुष्यंत के चित्त में रस की निष्पत्ति होती है, जबकि दूसरे प्रसंग में जो कि वास्तविक न होकर कलात्मक पुट लिए हुए है, उसमें नट के चित्त में रस की निष्पत्ति होती है।

भट्टलोल्लट का मत काफी हद तक वस्तुपरक है और भरत मुनि के करीब पड़ता है। लोल्लट की दृष्टि में रस की स्थिति 'तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिरुपचितो रसः' के रूप में है तो भरत के यहाँ 'नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्तनुवन्ति' के रूप में। दोनों में भावों के वास्तविक धरातल के आधार पर ही अन्तर लक्षित होता है।

आगे–चलकर शंकुक ने 'अनुमितिवाद', भट्टनायक ने 'भुक्तिवाद' तथा अभिनवगुप्त ने 'अभिव्यक्तिवाद' के रूप में भरत–सूत्र की व्याख्या करते हुए अपने मतों को प्रस्तुत किया तथा 'रस–निष्पत्ति' की प्रक्रिया पर विचार किया।

आचार्य शंकुक के 'अनुमितिवाद' का मूल आधार 'चित्रतुरंगादि न्याय' के सिद्धांत की कल्पना है। रस–सूत्र के विवेचन में इन्होंने संयोगादि का अर्थ – 'अनुमापक अनुमाप्य संबंध' और निष्पत्ति का अर्थ 'अनुमिति' के रूप में लिया है। शंकुक के अनुसार 'रस' मुख्य रूप से अनुकार्य में ही निहित होता है लेकिन सामाजिक की वासना में भी वह गौण रूप में उपस्थित होता है। अनुकर्त्ता में स्थायी भाव की स्थिति होती है, रस की नहीं और यह स्थायी भाव भी अनुकृत रूप में विद्यमान होता है। शंकुक के अनुसार 'अनुकृति' का संबंध रस–निष्पत्ति से है और 'अनुमति' का रसास्वाद की प्रक्रिया से। इनके यहाँ अनुकरण की भी तीन प्रक्रियाएँ हैं –

1. काव्य के आधार पर विभावादि का अनुकरण।
2. अभिनय–कला द्वारा अनुभावों का अनुकरण।
3. कृत्रिम अनुभावों द्वारा संचारी भावों का अनुकरण।

इस प्रकार अनुकर्त्ता स्वयं ही अनेक कारणों एवं प्रभावों के बल पर अनुकरण कर लिया करता है। और वह अनुकरण कृत्रिम या बनावटी प्रतीत नहीं होता। इन्हीं आधारों पर या इन्हीं माध्यमों से प्रेक्षक भी स्थायी भाव का अनुमान कर लेता है और स्थायी भाव का यह अनुमान ही रस–रूप में परिवर्तित होता है।

'चित्रतुरंगादि न्याय' के द्वारा इसे स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि चित्र में तुरंग (घोड़ा) वास्तविक नहीं है, लेकिन उसे तुरंग ही कहा जाता है। इसी प्रकार प्रेक्षक या समाजिक रामादि ऐतिहासिक पात्रों को अनुकार्य स्वीकार कर लेते हैं। इस अनुभूति या अनुमिति में ही रस की निष्पत्ति होती है।

भट्टनायक ने 'भुक्तिवाद' का प्रवर्तन करते हुए 'संयोगाद्' शब्द का अर्थ – 'भोज्य–भोजक' माना तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ – 'भुक्ति' माना। वे मानते हैं कि विभावादि रस के भोजक होते हैं और रस उनका भोज्य। भट्टनायक की सबसे बड़ी देन है, उनकी दो मौलिक कल्पनाएँ– एक भावकत्व एवं भोजकत्व व्यापार और दूसरा साधारणीकरण। इन्होंने अभिधा से परे इन्हीं दोनो व्यापारों के माध्यम से रसानुभूति की प्रक्रिया को स्पष्ट किया। भट्टनायक की दृष्टि में अभिद्या से सिर्फ काव्यार्थ का बोध होता है जबकि भावकत्व से उसका साधारणीकरण होता है। और साधारणीकृत काव्य का रस–रूप में भोग सामाजिक या प्रेक्षक करता है। यह भोग उसे साक्षात्कारात्मक भोजकत्व वृत्ति से मिलता है। स्पष्ट है कि भट्टनायक की दृष्टि में समाजिक या प्रेक्षक में वासना–रूप मे ।रस स्थित नहीं होता बल्कि वह (सामाजिक–प्रेक्षक) भोजकत्व व्यापार के सहारे उसका भोग प्राप्त करता है। इस प्रकार 'रस–निष्पत्ति' की प्रक्रिया में साधारणीकरण का विशेष महत्त्व है।

अभिनवगुप्त भट्टनायक के साधारणीकरण से तो प्रभावित जान पड़ते हैं लेकिन वे 'रस–निष्पत्ति' की प्रक्रिया की अलग रूप से व्याख्या करते हैं। अभिनवगुप्त ने भावकत्व एवं भोजकत्व को क्रमशः भावों की विशेषता एवं रस के स्वभाव के रूप में मानते हुए शब्द के अर्थ प्रकाशन में, उसके साधारणीकरण में व्यंजना के विभावन–व्यापार के योगदान को स्वीकार किया तथा रस–सूत्र के 'संयोग' का अर्थ – 'व्यंग्य–व्यंजक संबंध' रूप में तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अभिव्यक्ति' के रूप में माना। इनकी दृष्टि में विभावादि व्यंजक होते हैं और रस व्यंग्य होता है।

'रस–निष्पत्ति' की प्रक्रिया के उद्घाटन में मौलिकता के दर्शन धनंजय के मत में होते हैं। यहाँ पर सात्विक भावों को भी महत्त्वपूर्ण में स्वीकारा गया। उनके अनुसार –

विभावैरनुभावैश्चसात्विकैव्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मशतः।। (दशरूपक)

अर्थात्–विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से स्थायी भाव आस्वादन के योग्य बनता है और उसी को रस कहते हैं। सात्विक भावों की आवश्यकता इसलिए भी पड़ी क्योंकि सात्विक भावों के बिना स्थायी भाव सामाजिक या प्रेक्षक के अनुभव का पूर्ण विषय नहीं बन पाता। सात्विक भावों के ही चलते वह पूर्ण साधारणीकरण की अवस्था तक पहुँचने में सफल होता है। अतः रस–निष्पति में इनका महत्त्व योग होता है।

आचार्य विश्वनाथ पूर्ण रसानुभूति और आंशिक रसानुभूति की अवस्था के रूप में रस की दो स्थितियाँ स्वीकार की हैं और माना है कि विभावन, अनुभावन एवं संचरण नामक तीन व्यापारों के आधार पर ही 'रस' की निष्पत्ति होती है। अर्थ यह है कि विभावन व्यापार सामाजिक या प्रेक्षक के हृदय में (वासना–रूप में) स्थित भाव को जाग्रत करता है और अनुभावन उस जाग्रत भाव को आस्वादन के योग्य बनाता है जबकि संचरण उसे पूर्णरूपेण परिपुष्ट कर रस–रूप में प्रस्तुत करता है।

पंडित राज जगन्नाथ ने 'रस–सूत्र' से संबंधित मतों को सामने रखते हुए सबसे पहले संबंधित ग्यारह मतों की व्याख्या करते हैं, उनकी सीमाओं की ओर संकेत करते हैं और तत्पश्चात् कहते हैं कि – ''वासना रूप स्थायी भाव स्वतः प्रकाशमान आत्मानंद के साथ जब अनुभव किए जाते हैं, तब रस कहलाते हैं।" वस्तुतः पंडितराज मानते हैं कि विभावादि के अभाव में चेतन या आत्मा अज्ञानादि के आवरण से आच्छादित होता है। अतः अभिव्यक्ति का अर्थ ही है – इस अज्ञानावरण का भग्न होना। अतः रस 'भग्नावरणचिद्विशिष्ट' ही है। पंडितराज की दृष्टि में 'दिखाई देने वाले विभावादि नहीं, वरन् कल्पना में आए विभावादि आत्मचौतन्य के द्वारा प्रकाश प्राप्त करते हैं।' अतः रस की दशा तभी उपस्थित होगी जब विभावादि का अनुभव आत्मचौतन्य के साथ होगा। 'रसनिष्पत्ति' की प्रक्रिया को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए पंडितराज ने कहा है –

"रसोचित ललित शब्दों के सन्निवेश से मनोहर काव्य के द्वार समुपस्थित होकर सहृदयों के हृदय में प्रविष्ट हुए उनकी सहृदयता और भावना विशेष के पुनः–पुनः अनुसंधान के प्रभाव से, (साधारणीकरण व्यापार द्वारा) दुष्यंत रमणी के रूप शकुन्तला की निवृत्ति से, अलौकिक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव से, व्यवहृत शकुंतला आदि आलम्बन कारणों से, चन्द्रिका आदि उद्दीपन कारणों से, अश्रुपात आदि कार्यों एवं चिन्ता आदि सहकारी कारणों से सम्मिलित रूप से उत्पन्न हुए अलौकिक व्यापार के द्वारा उसी समय आनन्दांश के अज्ञान–रूपी आवरण के हट जाने के कारण अपने वैयक्तिक धर्मों से रहित प्रमाता के द्वारा स्वप्रकाश–स्वरूप अपने वास्तविक आनन्दमय स्वरूप से प्रत्यक्ष किए जाते हुए, पहले से वासना–रूप से समुपस्थित इत्यादि स्थायी भाव ही रस कहलाते हैं।" (रस गंगाधर) यहाँ पर पंडित राज ने रस की परिभाषा भी प्रस्तुत कर दी है और उसकी प्रक्रिया भी।

अन्ततः डॉ भगीरथ मिश्र के निष्कर्षों को स्वीकार करते हुए कहा जा सकता है कि –

1. रसानुभूति एक शरीर–मानसात्मिक व्यापार है। इस अनुभूति की स्थिति में हमारी समस्त वृत्तियाँ तन्मय हो जाती हैं और हम अपनी लौकिक सत्ता को भूल जाते हैं।
2. रसानुभूति प्रेक्षक, दर्शक या समाजिक को होती है।
3. रंगमंच पर प्रस्तुत दृश्यादि तथा उनके बीच नाट्य करने वाले विभिन्न पात्रों के अंग–संचालन, वार्तालाप, क्रियाकलाप, अभिनय आदि से अनुकार्यों की मनःस्थिति एवं भावों की व्यंजना होती है। अनुकरण की स्वाभाविकता एवं शब्दों के प्रभाव से उनका पात्रों के साथ व्यक्ति–संबंध छूटकर साधारणीकरण हो जाता है और वे सबके आस्वाद्य योग्य हो जाते हैं।

4. साधारणीकरण के साथ ही प्रेक्षक के भीतर संस्कार एवं वासनागत भाव जाग्रत होते हैं और साधारणीकृत भावों के साथ समन्वित एवं सम्पादित होकर प्रेक्षक को आनन्द प्रदान करते हैं।
5. इस प्रकार जाग्रत भाव भी व्यक्ति–संबंध से मुक्त होते हैं, अतः सुख–दुखात्मक आधार पर होते हुए भी तटस्थता के कारण आनन्दात्मक अनुभव प्रदान करते हैं।

तात्पर्य यह कि स्थायी भाव प्रत्येक मानव में निहित होते हैं। वही स्थायी भाव अनेक कारणों से विशेष स्थिति में पहुंच कर रस–रूप में व्यक्त हो जाते हैं। जहां तक रसात्मकता की स्थिति की बात है तो वह मूल पात्रों में भी होती है तथा नटादि में भी होती है, इसीलिए वे रामादि का सजीव अभिनय करने में सफल होते हैं ? सहृदय सामाजिक दर्शक या प्रेक्षक में भी रस की स्थिति होती है इसीलिए वह उसे ग्रहण करने में सफल होता है। इस प्रकार यही रसानुभूति या रस–निष्पत्ति की प्रक्रिया है जो विविध रूपों में घटित होती है।

11.3.2 साधारणीकरण

रस–निष्पत्ति या रसानुभूति की प्रक्रिया तब तक पूरी तरह स्पष्ट नहीं होती है जब तक 'साधारणीकरण' के सिद्धांत की व्याख्या न कर ली जाये। काव्य में 'साधारणीकरण' शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप में होता है जिसका अर्थ है –विभावन, विलयन, निर्वैयक्तीकरण या संबंध–विशेष का त्याग। साधारणीकरण वह स्थिति है जहाँ स्थान तथा काल की सीमा हट जाती है और व्यक्ति उसी के साथ जुड़ जाता है। इस प्रकार साधारणीकरण एक प्रक्रिया है जिसमें सहृदय अपने सामान्य मानवीय हृदय के माध्यम से विभावादि को सामान्यीकृत रूप में ग्रहण करता है। इसके अन्तर्गत सहृदय तथा मूल पात्र (अनुकार्य) दोनों काल एवं स्थान की सीमाओं एवं बंधनों से ऊपर उठकर सामान्य रूप ग्रहण कर लेते हैं।

वस्तुतः काव्य के पठन, नाटकादि के दर्शन से हम जिस आनन्द का अनुभव करते हैं वह आनन्द साधारणीकरण के द्वारा ही उत्पन्न होता है। अतः एक साथ कई प्रश्न उठते हैं – साधारणीकरण क्या है ? साधारणीकरण किसका होता है ? साधारणीकरण कैसे होता है ? आदि–आदि। इन प्रश्नों से रूबरू होते हुए आचार्यों ने इसकी अलग–अलग रूपों में व्याख्या प्रस्तुत की है। इन पर विचार करने से पूर्व इस बात पर विचार करना जरूरी है कि रसानुभूति की प्रक्रिया के दौरान कौन–कौन सी समस्याएं आती है ? रसानुभूति से जुड़ी समस्याओं को मोटे तौर पर तीन रूपों में देखा जाता है –

1. जब विभावादि प्रत्यक्ष नहीं होते तब उनसे साक्षात् रसानुभूति कैसे होगी ?
2. बहुत से विभावादि ऐसे हैं जो पूज्य भावना से प्रतिष्ठित रहते हैं, ऐसी स्थिति में उन पूज्य व्यक्तियों की रत्यादि में रसास्वादन करने में सामाजिक कैसे समर्थ होगा ?
3. करुण रस का स्थायी भाव शोक है। यह दुःखात्मक है। ऐसी स्थिति में वह रस–रूप में कैसे अनुभूत होगा?

ये तीनों प्रश्न आचार्यों के सामने रहे हैं और सब ने किसी–न–किसी रूप में इस पर विचार किया है। परन्तु भट्टनायक ने 'साधारणीकरण' के सिद्धांत की कल्पना कर एक साथ तीनों समस्याओं का समाधान खोजने का प्रयास किया। इसीलिए भट्टनायक का योगदान उल्लेखनीय है। वस्तुतः 'साधारणीकरण' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम आचार्य भट्टनायक–जो कि 'भुक्तिवाद' को स्थापित करने वाले हैं – ने ही किया। भट्टनायक ने लिखा है –

विभावादिसाधारणीकरणात्मना..भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः .. भोगने परं भुज्यत इति।

अर्थात– 'विभावादि के साधारणीकरण रूप भावकत्व नामक व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायी भाव रूप रस..भोजकत्व व्यापार के द्वार आस्वादित किया जाता है।'

इन्होंने माना है कि काव्य में तीन तरह की क्रियाएं होती हैं – अभिधा, भावकत्व एवं भोजकत्व। इसमें अभिधा द्वारा हम काव्य के शब्दार्थ को पकड़ते हैं जबकि भावकत्व क्रिया द्वारा सहृदय के हृदय में स्थित स्थायी भाव एवं विभावादि का साधारणीकरण होता है और भोजकत्व व्यापार की सहायता से साधारणीकृत विभावादि का रस–रूप में भोग होता है। डॉ. नगेन्द्र इस मत के विश्लेषण से निम्नलिखित तथ्य सामने लाते हैं –

क. साधारणीकरण विभावादि का होता है।

ख. यह साधारणीकरण ही वस्तुतः भावकत्व व्यापार का प्राण है – अर्थात् दोनों एक ही हैं।

ग. भावकत्व व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायी भाव ही रस–रूप में परिणत हो जाता है।

घ. साधारणीकरण रसास्वाद से पूर्व की प्रक्रिया है, यह वह प्रक्रिया है जो रस के विभिन्न अवयवों को अपने–अपने वैशिष्ट्य से मुक्त कर आस्वाद्य रूप में प्रस्तुत कर देती है।

यों तो अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत का खण्डन किया लेकिन एक अर्थ में उन्होंने साधारणीकरण के सिद्धांत को विकसित करने में भी योग दिया है उन्होंने माना है कि केवल विभाव और काव्य के स्थायी भाव का ही साधारणीकरण नहीं होता है, बल्कि दर्शक के, प्रेक्षक के, सहृदय के स्थायी भाव का भी साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है –

"काव्य तथा नाटक में विभाव कार्यत्व और सहकारित्व आदि रूपों का परित्याग कर विभावन आदि व्यापारों से रत्यादि को आस्वाद्य बनाते हैं। उन्हें आस्वाद्य रूप बनाने का श्रेय व्यंजना के विभावन आदि व्यापारों को होता है। विभावन आदि व्यापार विभाव आदि का साधारणीकरण कर देते हैं। विभाव आदि साधारणीकरण की व्यवस्था में ऐसे हो जाते हैं कि उन्हें न तो कोई यह कह सकते हैं कि 'ये मेरे ही हैं या शत्रु के ही हैं या तटस्थ के ही हैं; अथवा 'न मेरे हैं, न शत्रु' या तटस्थ के ही हैं; अथवा 'न मेरे हैं, न शत्रु के हैं, न तटस्थ के हैं; इस प्रकार के संबंध विशेष के स्वीकार परिहार के नियम का निश्चय होने से साधारण रूप में प्रतीत होने लगते हैं। बाद में यह साधारणीकृत विभाव सामाजिक में वासना–रूप में स्थित स्थायी भाव को आविर्भावित कर भावित या साधारणीकृत करते हैं।"

तात्पर्य यह कि साधारणीकरण द्वारा कवि–निर्मित पात्र अपने व्यक्ति–विशेष की स्थिति को छोड़कर सामान्य बन जाता है तथा देशकाल की सीमा से अलग हटकर सार्वदेशिक बन जाता है। अर्थ यह निकलता है कि काव्यगत या नाट्यगत नायक–नायिका में व्यक्तिगत संबंध के कारण जो भाव होते हैं वे भाव प्रेक्षक या सहृदय पाठक में साधारणीकृत हो जाते हैं। उनमें से ममत्व या परत्व की भावना निकल जाती है। उदाहरण के लिए 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' को पढ़ते समय या उसे देखते समय दुष्यंत या शकुंतला के प्रति जो रति–भाव है वह सहृदय पाठक या प्रेक्षक के लिए शुद्ध सात्विक रति–भाव बन जाता है। उस भाव का जन्म सभी सहृदयों में उसी रूप में होता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण पर विचार करते समय सहृदय पर सबसे अधिक दृष्टि रखी है।

अभिनवगुप्त द्वारा विवेचित साधारणीकरण की प्रक्रिया को निम्नलिखित रूपों में समझा जा सकता है –

1. अभिधा से काव्यार्थ का बोध होता है।
2. फिर व्यंजना के विभावन व्यापार से विभाव आदि का साधारणीकरण होता है।
3. व्यंजना के अनुभावन व्यापार से अनुभावों का साधारणीकरण होता है।

4. व्यंजना के संचरण व्यापार से संचारियों का साधारणीकरण होता है।

5. इस प्रकार साधरणीकृत विभावादि सामाजिक के स्थायी भाव को जाग्रत कर उसका साधारणीकरण करते हैं।

6. सहृदयस्थ स्थायी भाव के साधारणीकरण के साथ ही साथ आधार–आधेय संबंध से सहृदय का भी साधारणीकरण हो जाता है।

अभिनव गुप्त के पश्चात् आचार्य धनंजय ने साधारणीकरण के संबंध में अपने महत्त्वपूर्ण मत को व्यक्त करते हुए इसके दो सोपान स्वीकार किए। उनके अनुसार साधारणीकरण का प्रथम सोपान वह है जहाँ – "काव्य या नाट्य–दर्शन के समय नायक के प्रति सहृदय का पूर्व–संस्कार जन्म विशिष्टता अर्थात् पूज्य बुद्धि आदि का भाव लुप्त हो जाता है।" और इसके पश्चात् दूसरा सोपान आता है जहाँ – "पाठक या प्रेक्षक के सामने नायक कोई ऐतिहासिक व्यक्तित्व न रह कर मात्र कवि–विनिर्मित पात्र मात्र ही रह जाता है।" इन दोनों सोपानों से गुजरने के बाद ही नायक के साधारणीकृत भावों का रसास्वाद पाठक–प्रेक्षक आदि को होता है। इसके साथ ही इन्होंने साधारणीकरण में 'कवितत्त्व' का भी पहली बार उल्लेख किया।

आगे चलकर आचार्य विश्वनाथ ने साधारणीकरण की चर्चा करते हुए लिखा – "व्यापारोऽस्ति विभावादे नाम्ना साधारणीकृतिः।"

अर्थात् – "विभाव आदि का एक साधारणीकरण नामक व्यापार होता है जो काव्यार्थ का साधारणीकरण करता है।" विश्वनाथ के अनुसार 'रस–निष्पत्ति' एक प्रक्रिया है, वह साधारणीकरण की भूमिका के आधार पर घटित होता है। और जिसके दो रूप होते हैं–

1. **पूर्ण रस–दशाः** अर्थात्–पूर्ण रसानुभूति की अवस्था के रूप में, जहां सहृदय या दर्शक का आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित होता है और आलम्बन के साथ साधारणीकरण होता है।

2. **आंशिक रस–दशाः** आंशिक रसानुभूति की अवस्था वहां पैदा होती है जहां तादात्म्य की स्थिति पूरी तरह से उपस्थित नहीं होती।

'साधारणीकरण' के विषय में हिन्दी के विद्वानों ने भी अपने–अपने तरह से विचार व्यक्त किए हैं। यहां पर साधारणीकरण क्या है ? पर अधिक मतभेद नहीं है, प्रायः विचारक थोड़े–बहुत अंतर से एक मत के हैं। लेकिन साधारणीकरण किसका होता है ? इस पर मतैक्य नहीं मिलता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के 'साधारणीकरण' विषयक मत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, क्योंकि उसमें मौलिकता है और तर्क की प्रधानता। शुक्ल जी की मान्यता विश्वनाथ के करीब पड़ती है, क्योंकि शुक्ल जी भी दो अवस्थाओं को मानते हैं। शुक्ल जी के मतों को निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं –

1. "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्‌बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है।"

2. "साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति–विशेष या वस्तु–विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' का आलंबन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का भी आलम्बन हो जाती है। ....तात्पर्य यह है कि आलंबन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति के समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण, सबके भावों का आलंबन हो जाता है।"

3. "साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।"

इस प्रकार शुक्ल जी ऐसे आलम्बन की स्थिति को स्वीकार करते हैं जो सभी का आश्रय बन सके और इस रूप में वे आलंबनत्व–धर्म का ही साधारणीकरण मानते हैं।

दो अवस्थाओं की चर्चा करते हुए भी उन्होंने माना है कि – "रस की एक नीची अवस्था और है, जिसका हमारे यहाँ के साहित्य–ग्रंथों में विवेचन नहीं हुआ है।"

स्पष्टतः शुक्ल जी जब रस की दो दशाओं को मानते हैं तो साधारणीकरण की भी दो स्थितियाँ होंगी। यह मत विश्वनाथ प्रभावित है। लेकिन इसकी प्रस्तुति में शुक्ल जी ने अपनी प्रतिभा का योग देकर मौलिक बना दिया है। यह सच है कि उन्होंने आलंबनत्व के साधारणीकरण की ही चर्चा पर सर्वाधिक बल दिया है लेकिन उन्होंने आश्रय, आलंबन, कवि, विभावादि तथा सहृदय के साधारणीकरण की ओर भी संकेत किया है। उन्हीं के अनुसार–

"जहाँ आचार्यों ने पूर्णरस माना है, वहाँ तीनों हृदयों का समन्वय चाहिए। आलंबन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभावादि द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है, वह तभी चरितार्थ हो सकता है।" वे यह भी कहते हैं कि –

"विषय के सामान्यत्व की ओर जब कवि की दृष्टि रहेगी तभी यह साधारणीकरण हो सकता है।"

इस प्रकार वे कवि की अनुभूति और उसके कर्म के साधारणीकरण को स्वीकारते है और इसीलिए सच्चे कवि की कसौटी लोकहृदय की पहचान मानते हैं।

आगे चलकर पंडित केशव प्रसाद मिश्र ने शुक्ल जी के मत का खण्डन किया और कहा कि साधारणीकरण तो कवि अथवा भावुक की चित्तवृत्ति से संबंध रखता है। चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है। इन्होंने साधारणीकरण का संबंध योग की मधुमती भूमिका से स्वीकारा। इन्हीं का अनुसरण करते हुए श्याम सुंदर दास ने भी माना है– "कवि के समान सहृदय भी जब उस मधुमती भूमिका का स्पर्श करता है तब उसकी भी वृत्तियाँ उसी प्रकार एकलय हो जाती हैं कवि और पाठक की चित्तवृत्तियों का एकतान, एक लय हो जाना ही साधारणीकरण है।"

इस प्रसंग में बाबू गुलाबराय का मत भी उल्लेखनीय है। वे मधुमती भूमिका की स्थिति का विरोध करते हुए अपना मत व्यक्त करते हैं। उनके अनुसार–

"पाठक का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि वह अपने व्यक्तित्व के क्षेत्र–बंधनों को तोड़कर लोक सामान्य की भाव भूमि में आ जाता है।" और यह भी कि–

"भावों का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि उसमें भी 'अयं निजः परोवा' की भावना जाती रहती है और इस कारण उसमें लौकिक अनुभव की स्थूलता, कटुता, तीक्ष्णता और रुक्षता नहीं रहती है।"

इस प्रकार बाबू गुलाब राय ने कवि, पाठक और भाव के साधारणीकरण की बात की है जो नया भी है और उल्लेखनीय भी। इसमें जो अस्पष्टता दिखाई देती है उसको दूर करने की दृष्टि से आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी का मत ज्यादा प्रासंगिक है। वे लिखते हैं–

"साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और दर्शक) के बीच भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण वास्तव में कवि–कल्पित समस्त व्यापार का होता है केवल किसी पात्र–विशेष का नहीं।"

डॉ. नगेन्द्र ने 'रस सिद्धांत' के अन्तर्गत और 'रीतिकाव्य की भूमिका' में नये ढंग से साधारणीकरण को विश्लेषित किया और निष्कर्ष दिया कि –

"साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के ह्रदयों में समान अनुभूति जगा सके तो परिभाषिक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है। अनुभूति सभी में होती है, सभी व्यक्ति उसे यत्किंचित् व्यक्त भी कर लेते हैं, परन्तु साधारणीकरण करने की शक्ति सब में नहीं होती। कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके, दूसरे शब्दों में 'जिसे लोकह्रदय की पहचान हो।"

इस प्रकार साधारणीकरण की प्रक्रिया के विषय में आचार्यों में मतैक्य नहीं है। सबने अपनी–अपनी नजर से इसे व्याख्यायित करने का प्रयास किया है और सबके अपने अलग–अलग तर्क हैं।

11.3.3 सह्रदय की अवधारणा

'रस–निष्पत्ति' और 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया के बीच सह्रदय की कल्पना बहुत महत्त्वपूर्ण है। काव्यास्वादन की प्रक्रिया में हमारे सामने तीन सत्ताओं की मौजूदगी होती है–कवि, वस्तु और सह्रदय। नगेन्द्र रीतिकाव्य की भूमिका' में कहते हैं कि–"कवि वह व्यक्ति है जो अपनी अनुभूति को संवेद्य बनाता है, वस्तु तत्त्वतः उसकी अनुभूति है और ह्रदय वह व्यक्ति है जो कवि की इस संवेद्य अनुभूति को ग्रहण करता है।"

यह भी स्पष्ट है कि रस सर्वथा सामाजिक गत होता है, सह्रदयगत होता है। रस की स्थिति वस्तुतः सह्रदय की आत्मा में होती है, वस्तु में नहीं। वस्तु तो कवेल उसको उद्बुद्ध करती है।

सह्रदय का शाब्दिक अर्थ है – संवेदनायुक्त व्यक्ति, रसिक, जो दूसरों के दुःख–सुख आदि को समझने की योग्यता रखता हो। अतः काव्य में सह्रदय की कल्पना का अपना विशिष्ट अर्थ है। सह्रदय कौन है ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि–"सह्रदय शब्द का अर्थ है – समान ह्रदय वाला। कवि, चित्रकार, मूर्तिकार या शिल्पी के ह्रदय में जो विशिष्ट भाव रहता है, उनका वही अनुभव कर सकता है, जो उसी प्रकार का अनुभूति सम्पन्न ह्रदय रखता है। कलाकार के चित्त में जो व्याकुलता होती है, उसे रूप देने का प्रयत्न ही कला है। .....जिस प्रकार की व्याकुलता उसके चित्त में होगी उसी प्रकार की व्याकुलता उसकी कृति सह्रदय के ह्रदय में उत्पन्न कर सकती है, उससे ज़्यादा नहीं।"

वस्तुतः द्विवेदी जी यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जब तक रचयिता के चित्त में स्वयं रस की अनुभूति नहीं होती तब तक उसका चित्र दर्शक के ह्रदय में भी रस का उद्रेक नहीं कर सकता। स्पष्ट है कि रसानुभूति सह्रदय को भी होनी चाहिए। भरत से लेकर अभिनवगुप्त तक सभी ने इसे स्वीकारा है।

कवि एवं सह्रदय की सत्ता के बीच जहां कवि का महत्त्व है वहीं सह्रदय की सत्ता को भी महत्वपूर्ण माना गया है। डॉ. नगेन्द्र की दृष्टि में–"कवि अपनी अनुभूति को सह्रदय के प्रति इस प्रकार प्रेषणीय बनाता है कि उसको ग्रहण करके सह्रदय को आनंद की उपलब्धि होती है।" इसलिए–"सह्रदय की रसानुभूति में तो किसी को संदेह हो ही नहीं सकता। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि इस रस की स्थिति दोनों (कवि एवं सह्रदय) में से किस में है ? इसका ठीक उत्तर वही है जो अभिनव गुप्त ने दिया है – अर्थात् सह्रदय में। क्योंकि जब हम प्रसन्न होते हैं तो अपने ह्रदय–रस का, अपने आनन्द का ही अनुभव करते हैं। आनंद की स्थिति तो हमारे अपने अन्तर में ही है।"

इस प्रकार नगेन्द्र रसानुभूति की प्रक्रिया के बीच सहृदय की सत्ता और उसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि रस की वास्तविक स्थिति सहृदय के हृदय में ही होती है। यहाँ पर नगेन्द्र इस सवाल से भी रूबरू होते हैं कि सहृदय की रस–चेतना को जाग्रत करने के लिए कवि क्या करे ? जाहिर है कि कवि तो अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करेगा लेकिन वह अभिव्यक्ति कैसी हो ? इस पर विचार करते हुए कहा कि – 'अनुभूति को अभिव्यक्त करने में कवि को अपनी अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है, और उस संवेदित अुनभूति को ग्रहण करने में सहृदय को अपनी अस्मिता का आस्वादन होता है। इस प्रकार कवि अनुभूति के साथ अपना रस भी सहृदय के पास भेजता है, अतएव रस की स्थिति कवि के हृदय में मानना उतना ही अनिवार्य है जितना सहृदय के मन में। क्योंकि यदि कवि के कथन में रस नहीं है तो सहृदय में स्थित रस सुप्त पड़ा रहेगा और यदि सहृदय के हृदय में रस नहीं है तो कवि का संवेद्य निष्फल हो जाएगा।'

इस प्रकार नगेन्द्र ने सहृदय के महत्त्व को स्वीकारा है और कहा है कि सहृदय की चेतना का साधारणीकरण या निर्मुक्ति रसास्वादन की अंतिम एवं आधारभूत क्रिया है।

अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोकलोचन' में कहा कि रसचर्वणा के लिए रसिक का हृदय–संवाद होना जरूरी है।... हृदय–संवाद की शक्ति ही सहृदयत्व है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की विचारधारा भी कुछ इसी तरह की है। वे लिखते हैं – "रसानुभूति की स्थिति में सहृदय के मन में विभाव, अनुभाव अैर संचारीभाव के योग से उसका स्थायी भाव कल्पना–प्रक्रिया के द्वारा एक अखंड सौन्दर्यसत्ता के रूप में परिणत हो जाता है और इस प्रकार एक विशिष्ट रूपात्मक सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करता है। यह रूपात्मक सौन्दर्य रसभोक्ता को रसास्वादन में तन्मय बना देता है।" यह वह स्थिति है जिसमें सहृदय विशिष्ट प्रकार के आनंद का अनुभव करता है। शुक्ल जी ने प्रत्यक्ष रूपविधान, स्मृति रूपविधान तथा कल्पित रूपविधान के आधार पर भावों की जागृति को माना तथा कहा कि इस जागृति के पश्चात् ही सहृदय रसानुभूति में सक्षम होता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि सहृदय पहले बाह्य रूप को प्रत्यक्ष करता है और धीरे–धीरे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्त्व की ओर जाता है। उनके अनुसार (और भारतीय आचार्यों के भी अनुसार) – "जब तक कलाकार के चित्त में स्वयं रसानुभूति नहीं होती तब तक वह सहृदय को भी रसबोध नहीं करवा सकता। कलाकार अंतरतर की अनुभूति को रूप देता है और सहृदय उस रस का बाह्य प्रत्यक्ष करके अंतर्मुखी होता है।"

11.3.4 स्व मूल्यांकन

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में आपने रस–निष्पत्ति की प्रक्रिया, साधारणीकरण व सहृदय की अवधारणा का अध्ययन किया है। अब आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरकर एवं प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर इस अध्याय से प्राप्त ज्ञान का मूल्यांकन करें। यदि आप इस मूल्यांकन में असमर्थ हैं तो आपको निराश होने की आवश्यकता नहीं। आप इस अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

स्व मूल्यांकन : क – रिक्त स्थान भरो :–

1) ––––––––––––––––––––ने अभिव्यक्तिवाद के रूप में भरतमुनि के रस सूत्र की व्याख्या की है।
2) अनुमापक अनुमाप्य संबंध और निष्पति का अर्थ ––––––––––––के रूप में लिया है।
3) विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव और –––––––––––––भावों के संयोग से स्थायी भाव आस्वादन के योग्य बनता है।

4) अभिनवगुप्त ने ———————————————————में कहा है कि रसचर्वणा के लिए रसिक का हृदय–संवाद होना जरूरी है।

5) सहृदय की ————————————————हो तो किसी को संदेह हो ही नहीं सकता।

स्व–मूल्यांकनः ख – सही / गलत :–

1) साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और दर्शक) के बीच भावना का तादात्म्य ही है। (   )

2) 'रस–निष्पत्ति' और 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया के बीच सहृदय की कल्पना बहुत महत्वपूर्ण है। (   )

3) सहृदय शब्द का अर्थ है– समान हृदय वाला। (   )

4) कवि अपनी अनुभूति को सहृदय के प्रति इस प्रकार प्रेषणीय बनाता है कि उसको ग्रहण करके सहृदय को आनन्द की उपलब्धि होती है। (   )

5) अभनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोकलोचन' में कहा कि रसचर्वणा के लिए रसिक का हृदय–संवाद होना जरूरी नहीं है। (   )

11.4 सारांश

स्पष्ट है कि रस सहृदय श्रोता या पाठक के चित्त में उत्पन्न होता है। इसलिए साधारणीकरण की प्रक्रिया में सहृदय का अपना विशिष्ट महत्त्व है जिसे संस्कृत आचार्यों ने भी स्वीकारा है और हिन्दी के आचार्यों ने भी उसे महत्त्वपूर्ण माना है।

11.5 कठिन शब्द

1) सहृदय– समान हृदय वाला

2) प्रक्रिया– प्रकरण, क्रिया

3) विशिष्ट – विशेषता प्रकट

4) जागृति– जागरण

5) रसानुभूति– रस की अनुभूति

11.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. रस–निष्पत्ति पर विचार करते हुए रस–निष्पत्ति की प्रक्रिया पर प्रकाश डालें।

2. **रस–निष्पत्ति विषयक भट्टलोल्लट के मत की व्याख्या कीजिए।**

3. **साधारणीकरण विषयक विभिन्न आचार्यों के मतों पर प्रकाश डालिए।**

1.7. उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन : क

1. अभिनवगुप्त 2. अनुमिति 3. व्यभिचारी 4. ध्वन्वालोकलोचन 5. रसानुभूति

स्व–मूल्यांकन : ख

1. सही 2. सही 3. सही 4. सही 5. गलत

11.8. पठनीय पुस्तकें

(1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा, हरियाणा ग्रंथ अकादमी पंचकूला, 2013

(2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकशन, वाराणसी, 2023

(3) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय, वाणी प्रकाशन, 2024

(4) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2019

रस–निष्पत्ति–सूत्र की व्याख्या एवं भट्टनायक का मत

रूपरेखा

12.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
12.2 प्रस्तावना
12.3 रस–निष्पत्ति सूत्र की व्याख्या
12.4 भट्टनायक का मत
12.5 स्व–मूल्यांकन
12.6 सारांश
12.7 कठिन शब्द
12.8 अभ्यासार्थ प्रश्न
12.9 उत्तर कुंजी
12.10 पठनीय पुस्तके

12.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों ! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको रस–निष्पत्ति सूत्र की व्याख्या तथा भट्टनायक के मत से परिचित करवाना है।

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

- रस–निष्पत्ति–सूत्र के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- रस–निष्पत्ति विषयक भट्टनायक के मत से अवगत हो सकेंगे।

12.2 प्रस्तावना

रस भारतीय काव्यशास्त्र का मूल आधार है। इसीलिए भारतीय काव्यशास्त्रियों ने रस का विवेचन पूरे मनोयोग से किया है। 'रस–निष्पत्ति' पर विचार करने वाले पहले आचार्य भरतमुनि हैं जिन्होंने अपने 'नाट्यशास्त्र' के अन्तर्गत रस क्या है ? रस की संख्या कितनी है ? रस–निष्पत्ति कैसे होती है ? रस का आस्वाद कैसे होता है ? रस भाव से बनते हैं भाव से रस का निर्माण होता है ? स्थायी भाव क्या होते है ? विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी क्या हैं ? इनका एक दूसरे से क्या संबंध है ? भावों का रस में विनियोग कैसे होता है ? जैसे अनेक सवालों पर विस्तार से विचार किया है।

12.3 रस–निष्पत्ति–सूत्र की व्याख्या

भरतमुनि पहले आचार्य हैं जिन्होंने 'रस–निष्पत्ति' से संबंधित सूत्र प्रस्तुत किया और उस सूत्र की व्याख्या भी की। भरत ने निष्पत्ति–विषयक जो सूत्र दिया है वह अपने आप में इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि बाद के आचार्यों ने उसी सूत्र की व्याख्या करते हुए अपने मतों का प्रतिपादन किया है। भरत के अनुसार–

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। वे उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि–

यथा नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः
तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्ति।

अर्थात् जैसे कई प्रकार के व्यंजन और औषधि–द्रव्यों के संयोग से रस निष्फल हुआ करता है, वैसे ही नाना भावों के इकट्ठे होने पर रस निष्फल हो जाता है। और यह भी माना कि रस भावहीन नहीं होता, भाव भी रसहीन नहीं हुआ करता। अभिनय में दोनों की परस्पर सिद्धि होती है। इसके लिए भरत ने उदाहरण प्रस्तुत किया है और कहा है कि भाव और रस भी एक–दूसरे को अभिव्यक्त करते हैं। जैसे बीज में वृक्ष होता है, और वृक्ष से फल–फूल होते हैं, वैसे ही सभी रस मूल होते हैं – उनमें भाव व्यवस्थित होते हैं वे लिखते हैं–

व्यजनौषधिसंयोगाद्यथा न स्वादुता भवेत्।
एवं भावा रसाश्चौव भावयन्ति परस्परम्।।
यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेषु भावा व्यवस्थिताः।।

इस प्रकार भरत ने माना है कि रस–निष्पत्ति में संयोग की महत्ता है। वह संयोग किसका ? किसके साथ ? पर विचार करते हुए कहा है –

यथा गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनैरोषधीभिश्च षङ्सा निर्वर्त्यन्ते,
एवं नानावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।

कहने का अर्थ यह है कि जैसे गुड़ आदि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से छह रस बनते हैं, इसी प्रकार स्थायी भाव नाना भावों से युक्त होकर रस बनते हैं। अतः भरत के रस–सूत्र का अर्थ इस रूप में माना जा सकता है –

'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का स्थायी भाव के साथ संयोग या संसर्ग होने से रस की सिद्धि होती है।'

भरत के इस रस–सूत्र में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' पर विशेष बल दिया गया है। परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं शब्दों की व्याख्या की है और अपने–अपने मत स्थापित किए हैं जिनमें भट्लोल्लट का आरोपवाद या उत्पत्तिवाद, शंकुक का अनुमितिवाद, भट्टनायक का भुक्तिवाद तथा अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

12.4 भट्टनायक का मत

भट्टनायक ने 'भुक्तिवाद' के मत को स्थापित किया। भट्टनायक भरत–सूत्र के तीसरे व्याख्याकार हैं। सांख्य मतावलम्बी भट्टनायक ने रस की व्याख्या में दर्शक को विशेष महत्त्व दिया तथा सांख्य दर्शन के आलोक में ही इन्होंने भावों की व्याख्या प्रस्तुत की। इन्होंने 'संयोग' का अर्थ 'भोज्य–भोजक भाव' और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भुक्ति' माना। इसीलिए इनके मत को 'भुक्तिवाद' कहा गया। तात्पर्य यह कि भुक्तिवादी आचार्य भट्टनायक ने रस–सूत्र में से दो शब्दों को अपने मत की स्थापना के लिए चुना और इन्हीं की व्याख्या द्वारा नया मत स्थापित किया। इनके मतों का विवेचन अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' तथा 'ध्वन्यालोकलोचन' में विस्तार से किया है। और कहा गया है कि–

भट्टनायकस्त्वाह रसो न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते।

अर्थात् भट्टनायक रस–सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि रस न तो प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त होता है। (क्योंकि सामाजिक को रस की प्रतीति दो ही प्रकार से हो सकती है या तो परगत या स्वगत। परगत या तो मुख्य रामादिगत हो सकती है या नरगत। परगत मानने पर सामाजिक का उस भाव से संबंध ही क्या रहेगा ? अतः वह उदासीन हो जाएगा। इसके प्रतिकूल) रस की स्वगत प्रतीति मानने पर करुण रस में उसे दुःख का ही अनुभव होगा। स्वगत प्रतीति ठीक भी नहीं है क्योंकि सीता इत्यादि (मूलपात्र) सामाजिक के लिए तो विभाव हो ही नहीं सकते। (एक तो सीता उस समय विद्यमान नहीं हैंश् दूसरे जगत्पूज्य नायिकाओं का सभी व्यक्तियों के प्रेम का आलम्बन बनना ठीक भी नहीं है। यदि यह कहा जाये कि मध्य में सामाजिक अपनी कान्ता का स्मरण कर रसास्वादन करता है तो) अपनी कान्ता का स्मरण संवेदना गोचर नहीं होगा। (आशय यह है कि यह कोई अनिवार्य नियम नहीं है कि अभिनय देखने के अवसर पर अपनी कांता का स्मरण अवश्य हो।) देवता इत्यादि में साधारणीकरण करना ठीक भी नहीं है। समुद्र–लंघन आदि (जो लोकोत्तर कार्य होते हैं उन कार्यों) का साधारणीकरण हो ही नहीं सकता। यह भी नहीं कह सकते कि उन (विभिन्न भावों) से युक्त राम की स्मृति हो आती है। (स्मृति उसी की होती है जिसको पहले कभी देखा हो) राम को पहले देखा नहीं था इसलिए उसकी स्मृति भी नहीं हो सकती। (दूसरी बात यह कि) शब्द अनुमान इत्यादि से उस रस की प्रतीति मानने पर लोक की उतनी सरसता हो भी नहीं सकती जितनी प्रत्यक्ष से होती है। (यदि कहो कि प्रत्यक्ष के द्वारा ही रसानुभूति होती है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष रूप में) नायक–नायिका के युग्म को (रति–प्रवृत्त) देखने पर (रति का तो अनुभव नहीं हो सकता प्रत्युत) जैसी अपनी अन्तर्वृत्ति होगी उसी के अनुसार किसी दूसरी चित्तवृत्ति का उदय हो जाएगा। या तो लज्जा का अनुभव होगा या घृणा का या आकांक्षा का, या किसी दूसरे भाव का। (ये रस–प्रतीति के दोष हैं) यही दोष 'उत्पत्ति' मानने पर भी लागू होते हैं। (यदि कहो कि रस न तो प्रतीत होता है और न उत्पन्न होता है अपितु अभिव्यक्त होता है। तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अभिव्यक्ति उसी की हो सकती है जिसका पहले अनुभव किया जा चुका हो। रस अभिव्यक्त होता है कहने का आशय यह है कि रस पहले विद्यमान था और विभावादि के संयोग से अभिव्यक्त हो गया।) यदि शक्ति रूप में रस को पहले विद्यमान माना जाये और बाद में उसकी अभिव्यक्ति स्वीकार की जाये तो विषयों के अर्जन में तारतम्य (रूप दोष) आ जाएगा। (क्योंकि अभिव्यक्ति तो अपेक्षाकृत होती है। जिसने विषयों का अधिक सेवन किया होगा उसे अधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति होगी।) इसके अतिरिक्त स्वगतत्व–परगतत्व इत्यादि के रूप में पहले (प्रतीति पक्ष में) जो दिखलाये गये हैं वे अभिव्यक्ति पक्ष में भी लागू हो जाएँगे। उनकी दृष्टि में

तस्मात् काव्यं दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनय–

रुपेण निविडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना,

अभिधातो द्वितीयनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानोरसो,

अर्थात् अभिधा से भिन्न उसके बाद होने वाले द्वितीय अंश (एक नयी दूसरी वृत्ति) भावकत्व के द्वारा रस भावित किया जाता है। इस भावकत्व व्यापार का काव्य में स्वरूप होता है (काव्य का) दोष से रहित होना और गुण तथा अलंकार से युक्त होना इसी प्रकार नाट्य में इसका स्वरूप होता है चार प्रकार का अभिनय। इस (भावकत्व व्यापार) का कार्य होता है अपने (सामाजिक के) घने मोहरूप अज्ञान का निवारण कर देना और उसकी आत्मा होती है विभावादि का साधारणीकरण कर देना। (भावकत्व के द्वारा भावित) उस रस का भोग किया जाता है भोग (भोजकत्व नामक तीसरी वृत्ति) के द्वारा। (यह भोजकत्व वृत्ति) अनुभव, स्मृति इत्यादि (दूसरे ज्ञान–कारणों) से भिन्न होती है। (अभिनवभारती)

'ध्वन्यालोकलोचन' में भी भट्टनायक के मत को प्रस्तुत किया गया है लेकिन इसमें सिद्धान्त कथन अल्प मात्रा में है।

मम्मट ने अपने 'काव्य–प्रकाश' में भट्टनायक के मत का उल्लेख किया है। यह उल्लेख संक्षिप्त है पर महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें कुछ नयापन भी है। वहाँ कहा गया है कि–

न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते
अपि तु काव्ये नाट्येचाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना

भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी, सत्त्वोद्रेकप्रकाशान्दमयसंविद्वि–

श्रीन्तिसत्वेन भोगेन भुज्यते।

अर्थात् – न तटस्थ (नटगत या अनुकार्यगत रूप से) और न स्वगत रूप से रस की प्रतीति, उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है। अपितु काव्य और नाटक में अभिधा से द्वितीय (तुरंत बाद में होने वाले), विभावादि के साधारणीकरणरूप भावकत्व नामक व्यापार से भाव्यमान (साधारणीकृत) स्थायी भाव, सत्व के उद्रेक से प्रकाश और आनन्दमय संविद्विश्रांति (आत्मास्वाद या ब्रह्मस्वाद) के समान, भोग से (भोजकत्व व्यापार के द्वारा आस्वादित किया जाता है। यह भट्टनायक का मत है।)

इस प्रकार भट्टनायक ने रस–सूत्र और तद्विषयक व्याख्याओं के संदर्भ में प्रस्तुत उत्पत्ति, अनुमिति एवं अभिव्यक्ति परक मान्यताओं का खण्डन किया तथा अभिधा, भावकत्व एवं भोजकत्व नामक तीन व्यापारों के आधार पर 'भुक्तिवाद' को स्थापित किया।

इनके मतानुसार काव्य या नाटक के विभावादि अभिधा द्वारा बोधगम्य बनते हैं। तत्पश्चात् विभावादि भावकत्व द्वारा साधारणीकृत होकर सहृदय के उपभोग योग्य बनता है। अर्थात् 'रस–निष्पत्ति' का अर्थ विभावादि की भोज्य–भोजक–भाव से भुक्ति है। भट्टनायक की दृष्टि में भावकत्व का अर्थ है–साधारणीकरण। इस भावकत्व व्यापार या साधारणीकरण व्यापार से विभावादि और स्थायी भाव का साधारणीकरण हो जाता है और इसकी तीन प्रक्रियाएँ हैं–

1. अभिधा से काव्यार्थ का बोध।
2. भावकत्व व्यापार से विभावादि का साधारणीकरण हो जाता तथा उसका व्यक्तिगत संबंधों से विच्छिन्न हो जाना।
3. स्थायी भाव का साधारणीकरण तथा सत्वोद्रेक की स्थिति।

भट्टनायक के मत का सारांश प्रस्तुत करते हुए डॉ नगेन्द्र ने इसके दो पक्षों का विश्लेषण किया है। उनकी दृष्टि में भट्टनायक के मत के दो पक्ष हैं – निषेध पक्ष और विधि पक्ष।

निषेध पक्ष में भट्टनायक ने रस की प्रतीति, उत्पत्ति का खण्डन किया है। जबकि विधि पक्ष में अपने मत की पुष्टि के लिए काव्य के तीन व्यापारों–अभिधा, भावकत्व एवं भोजकत्व–की कल्पना की है। भट्टनायक के निषेध पक्ष में पहला प्रश्न प्रतीति से जुड़ा है। रस की प्रतीति मानने पर सवाल खड़ा होता है कि वह परगत होती है या स्वगत? यदि परगत है तो उससे सामाजिक का क्या संबंध है ? यदि वह स्वगत है अर्थात् यह स्वीकार किया जाये कि सामाजिक को खुदबखुद ही रस की प्रतीति होती है, तो प्रश्न खड़ा होता है कि यह प्रतीति प्रत्यक्ष होती है या परोक्ष। रस की प्रत्यक्ष प्रतीति मानने पर करुणादि रसों में नायक–नायिका के शोक से सामाजिक को शोक का अनुभव होगा। दूसरी तरफ श्रृंगारादि की स्थिति में दूसरों की प्रेम–क्रीड़ा के साक्षात्कार से सहृदय के चित्त में लज्जा, जुगुप्सा आदि का उदय होगा, आनन्द का नहीं और उसकी चित्त की तन्मयता नष्ट होगी फलतः रसानुभूति की संभावना ही नहीं बनती।

साथ ही काव्यगत विभाव–सीता, पार्वती आदि में तो सहृदय की पूज्य–बुद्धि है, वे सामान्य कांता तो नहीं है जिसके प्रति उसका सहज रतिभाव हो सके। फिर अलौकिक कार्यों से जुड़ा प्रश्न भी है। हनुमान के समुद्र लंघन की प्रतीति सहृदय को किस तरह हो सकती है जबकि अलौकिक एवं असाधारण पात्रों का तो साधारणीकरण ही नहीं होता। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रतीति संगत नहीं है। परोक्ष प्रतीति के दो रूप माने गए हैं– (1) शब्दार्थ – ज्ञान (2) स्मृति। शब्दार्थ–ज्ञान में साक्षात्कारात्मक अनुभूति की संभावना नहीं होती क्योंकि मात्र अर्थ–बोध में आस्वाद की स्थिति नहीं बनती। यदि स्मृति की कल्पना करें तो वहाँ भी संगति नहीं बैठती। क्योंकि स्मरण तो उसका होता है जिसका प्रत्यक्ष दर्शन या अनुभव हो। रावण के यहाँ बंदिनी सीता को या सीता के लिए व्याकुल राम को हमने देखा नहीं अतः उनका स्मरण संभव नहीं। इस प्रकार परोक्ष प्रतीति भी संगत नहीं है। उत्पत्ति की व्याख्या में भी ये ही तर्क सामने आते हैं।

रस की अभिव्यक्ति में पहला सवाल यही खड़ा होता है कि वह परगतत्व होता है या स्वगतत्व। यदि उसकी नट या अनुकार्य के चित्त में अभिव्यक्ति मानी जाये तो यह भी माना जाएगा कि वह सहृदय के लिए व्यर्थ है। और यदि रस की अभिव्यक्ति सहृदय के चित्त में होती है तो विभावादि अभिव्यंजक कारणों के न्यूनाधिक्य से रसाभिव्यक्ति में भी न्यूनाधिक्य तारतम्य की कल्पना करनी पड़ेगी। उदाहरणार्थ दीपक के प्रखर प्रकाश से पदार्थ अधिक व्यक्त होता है मंद होने से कम। इसलिए काव्य में भी अभिव्यंजक दीपक के समान अभिव्यंजक विभावादि की शक्ति से रसाभिव्यक्ति की स्थिति मानी जाएगी जो रस की अखण्डता में बाधा स्वरूप होगा। अतः यह कल्पना भी संगत नहीं है।

अब जरा भट्टनायक के विधि–पक्ष को भी देख लें। वे काव्य के तीन व्यापारों–अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व की कल्पना के साथ ही मानते हैं कि रस की भुक्ति होती है। अभिधा शब्दार्थ का ज्ञान कराता है वह सामान्य व्यापार है, प्रारम्भिक व्यापार है। इसके विषय में भट्टनायक ने बहुत कुछ नहीं कहा है, लेकिन अन्य दो व्यापारों के विषय में वे काफी सजग हैं।

भावकत्व व्यापार की सत्ता काव्य और नायक दोनों में दिखाई देती है। भावकत्व व्यापार के चलते काव्य में कुछ विशिष्ट गुणों को स्थान मिलता है – जैसे – "(क) सहृदय के चित्त का व्यक्तिगत राग–द्वेष–जन्म अज्ञान दूर हो जाता है–अर्थात् वह व्यक्तिगत राग–द्वेष से मुक्त हो जाता है, अपने–पराये की भावना, जो आनन्दानुभूति की प्रमुख बाधा है, उस समय नहीं रहती। (ख) विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है – जो इस व्यापार का मूल गुण है; और अन्ततः (ग) रस भावित हो जाता है।"

मम्मट ने भी यही कहा है कि स्थायी भाव भावित होकर रस में परिवर्तित हो जाता है। यही रस की निष्पत्ति हैः निष्पत्ति का अर्थ है – स्थायी भाव का भावित हो जाना। भावित शब्द पर विचार करते हुए इसका सीधा अर्थ लिया गया है – साधारणीकृत। डॉ नगेन्द्र ने भट्टनायक के भावकत्व या भावन–व्यापार को 'कलात्मक प्रतीति' के रूप में माना है। वे लिखते हैं कि – "रस का स्थान है सहृदय का चित्त।.. (और) भट्टनायक का अभिप्राय सहृदय के स्थायी भाव से है – सहृदय भावकत्व व्यापार के द्वारा अपने स्थायी भाव का साधारणीकृत रूप में – अनुभव करता है और फिर इस प्रकार सिद्ध रस का भोजकत्व व्यापार के द्वारा अपने स्थायी भाव का साधारणीकृत रूप में – रस रूप में – अनुभव करता है और फिर इस प्रकार सिद्ध रस का भोजकत्व व्यापार द्वारा भोग करता है।" इस प्रकार स्पष्टतः भट्टनायक काव्य के भावकत्व एवं भोजकत्व व्यापारों की क्रियाभूमि सहृदय के चित्त को स्वीकारते हैं जहाँ रस का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इस प्रकार भट्टनायक की दृष्टि में रस–सूत्र की व्याख्या इस प्रकार है –

भोजकत्व व्यापार के द्वारा सहृदय भावकत्व द्वारा सिद्ध रस का भोग करता है। यह भोग अनुभव तथा स्मृति आदि–प्रत्यक्ष या परोक्ष लौकिक अनुभव से विलक्षण है। इस विवेचन के आधार पर निष्पत्ति का अर्थ है – भावित होना। डॉ नगेन्द्र लिखते हैं कि – "रस का स्थान है सहृदय का चित्त।.. (और) भट्टनायक का अभिप्राय सहृदय के स्थायी भाव से है –

सहृदय भावकत्व व्यापार के द्वारा अपने स्थायी भाव का साधारणीकृत रूप में – रस रूप में – अनुभव करता है और फिर इस प्रकार सिद्ध रस का भोजकत्व व्यापार द्वारा भोग करता है।'' इस प्रकार स्पष्टतः भट्टनायक काव्य के भावकत्व एवं भोजकत्व व्यापारों की क्रियाभूमि सहृदय के चित्त को स्वीकारते हैं जहाँ रस का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इस प्रकार भट्टनायक की दृष्टि में रस–सूत्र की व्याख्या इस प्रकार है –

विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से भोज्य–भोजक भाव से रस की भुक्ति होती है।

इस प्रकार भट्टनायक ने रसास्वादन के स्वरूप की तात्विक व्याख्या करते हुए 'रस–सिद्धांत' एवं 'रस–विवेचन' के प्रसंग में 'साधारणीकरण' का जो मूल आधार प्रस्तुत किया है, वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

भट्टनायक के इस विवेचन एवं मत–स्थापन के प्रति आचार्यों ने खण्डनात्मक वृत्ति भी अपनायी है। अभिनवगुप्त ने इनके मत के विरुद्ध कई आक्षेप प्रस्तुत किये हैं जिन्हें नगेन्द्र आदि विद्वानों ने भी प्रस्तुत किया है। ये आक्षेप मूलतः रस और रस–भोग, प्रतीति और भुक्ति, उत्पत्ति और अभिव्यक्ति तथा भावकत्व एवं भोजकत्व से जुड़े हैं। भट्टनायक का मूल आक्षेप यही है कि–

1. रस और रस–भोग में अन्तर उचित नहीं है। अभिनवगुप्त की दृष्टि में 'सर्वथा रसनात्मक तथा वीतविघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है' लेकिन वह भाव अन्ततः आस्वाद्य रूप ग्रहण कर लेता है, अतः रस और रस–भोग में जो अन्तर भट्टनायक ने माना है, वह तर्कपूर्ण एवं संगत नहीं है।

2. दूसरा आक्षेप प्रतीति और भुक्ति से जुड़ा हुआ है। अभिनवगुप्त कहते हैं कि प्रतीति और भुक्ति का भेद मिथ्या है; भक्ति भी तो अन्ततः प्रतीति ही है, क्योंकि प्रतीति के बिना किसी प्रकार का व्यवहार संभव ही नहीं है। इसलिए रस–प्रतीति को नकार रस–भुक्ति की स्थापना उचित नहीं है।

3. तीसरा आक्षेप भोग के स्वरूप की व्याख्या से जुड़ा है। कहा गया है कि भट्टनायक ने भोग की व्याख्या करते समय जो स्वरूप प्रस्तुत किया है वह तात्विक नहीं है।

4. रस की 'उत्पत्ति' और 'अभिव्यक्ति' से जुड़ा चौथा आक्षेप है जिसमें कहा गया कि रस की यदि दोनों ही स्थितियों को अमान्य कर दिया जाये तो उसे या तो नित्य माना जाएगा या असत्; क्योंकि जो नित्य है उसकी उत्पत्ति नहीं होती और जो असत् है उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। 'इस तर्क को यों भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि ऐसी कोई सत्ता नहीं है जिसकी न उत्पत्ति हो न अभिव्यक्ति–यदि वह सत् तो उसकी अभिव्यक्ति होनी चाहिए और यदि असत् है तो उत्पत्ति होनी चाहिए। संसार में जितने भी तत्त्व हैं उनकी सत्ता की कल्पना उपर्युक्त दोनों पद्धतियों में से किसी एक के द्वारा अवश्य होनी चाहिए।' इसलिए रस की अभिव्यक्ति और उत्पत्ति दोनों का निषेध तर्क संगत नहीं है।

5. अंतिक आक्षेप भावकत्व एवं भोजकत्व से जुड़ा है जिसमें कहा गया कि इन दोनों की कल्पना के लिए या इन दोनों की सत्ता को स्वीकार करने के लिए कोई शास्त्र–सम्मत प्रमाण नहीं है।

इन सारे आक्षेपों–जिनका संबंध तर्कशास्त्र की युक्तियों से है– के बाद भी निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि भट्टनायक ने साधारणीकरण के द्वारा रसानुभूति के रहस्य को स्पष्ट करने में उल्लेखनीय कार्य किया है। निस्संदेह भट्टनायक ने साधारणीकरण के रूप में वह सिद्धान्त दिया जिसके बल पर रसानुभूति से जुड़ी अनेक समस्याओं का समाधान सामने आ सका। डॉ नगेन्द्र भट्टनायक के इस योगदान को रेखांकित करते हुए लिखते हैं – "भट्टनायक की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है साधारणीकरण–सिद्धांत। काव्यास्वादन का मौलिक प्रश्न यह है कि काव्य में अभिव्यक्त व्यक्ति के भाव–कवि के या कवि–निबद्ध पात्र के सहृदय के आस्वाद्य किस प्रकार बन जाते हैं, एक सहृदय के ही नहीं समस्त

सहृदय–समाज के ? इसका समाधान सर्वप्रथम भट्टनायक ने साधारणीकरण सिद्धांत की उद्भावना द्वारा किया। यह प्रश्न वास्तव में साहित्यालोचन का मूल आधार है और भट्टनायक ने इसका समाधान प्रस्तुत कर आलोचनाशास्त्र के इतिहास में अभूतपूर्व सिद्धि प्राप्त की।"

12.5 स्व मूल्यांकन

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में आपने रस–निष्पत्ति सूत्र की व्याख्या तथा भट्टनायक के मत का अध्ययन किया है। अब आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरकर एवं प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर इस अध्याय से प्राप्त ज्ञान का मूल्यांकन करें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा। यदि आप इस मूल्यांकन में असमर्थ हैं तो आपको निराश होने की आवश्यकता नहीं। आप इस अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

स्व–मूल्यांकनः क–रिक्त स्थान

1) भरतमुनि के रस सूत्र में ——————————पर विशेष बल दिया गया है।
2) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का स्थायी भाव के साथ ——————————होने से रस की सिद्धि होती है।
3) भावकत्व व्यापार से विभावादि का ——————————हो जाता है।
4) भोजकत्व व्यावार के द्वारा ——————————भावकत्व द्वारा सिद्ध रस का भोग करता है।
5) विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से ——————————भाव से रस की भुक्ति होती है।

स्व–मूल्यांकनः ख – सही / गलत

1. भट्टनायक ने 'संयोग' का अर्थ 'भोज्य–भोजक' भाव और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'मुक्ति' माना। (   )
2. भट्टनायक के मतानुसार काव्य या नाटक के विभावादि अभिधा द्वारा बोधगम्य बनते हैं। (   )
3. परोक्ष प्ररोति के तीन रूप माने गए हैं। (   )
4. मम्मट ने कहा है कि स्थायी भाव भावित होकर रस में परिवर्तित हो जाता है। (   )
5. मम्मट के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ है– स्थायी भाव का भावित हो जाना। (   )

12.6 सारांश

निस्संदेह भट्टनायक का अपना महत्वपूर्ण योगदान है क्योंकि पहली बार भट्टनायक ने ही तात्विक व्याख्या करते हुए रसास्वादन के स्वरूप पर प्रकाश डाला। रसास्वाद या काव्यानन्द चित्त की आत्मा में विश्रांति का नाम है और यह विश्रांति सत्व गुण के उद्रेक की अवस्था में होती है और तब होती है जब रजस् और तमस् का शमन तो हो जाता है लेकिन सर्वथा अभाव नहीं होता; यह मानते हुए तथा आत्मानंद या ब्रह्मानंद से उसका साम्य–वैषम्य स्पष्ट करते हुए भट्टनायक ने ही सर्वप्रथम रसास्वाद या काव्यास्वाद के स्वरूप को स्पष्ट किया। और 'साधारणीकरण' का सिद्धांत तो भट्टनायक की सर्वोत्तम देन है। इस प्रकार रस–निष्पत्ति की प्रक्रिया पर विवेचनात्मक–विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करने के साथ ही रस–सूत्र की जो व्याख्या भट्टनायक ने की है, वह उल्लेखनीय है।

12.7 कठिन शब्द

1) साम्य– समानता
2) वैषम्य– विषमता
3) शमन– शांत करना, शांति
4) विश्लेषण– छानबीन करना
5) सर्वोत्तम– सबसे उत्तम

12.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. रस–निष्पत्ति–सूत्र की व्याख्या कीजिए।

____

____

____

____

____

2. रस–निष्पत्ति विषयक भट्टनायक के मत की व्याख्या कीजिए।

____

____

____

____

____

12.9 उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन : क

1. संयोग और निष्पत्ति 2. संयोग या संसर्ग 3. साधारणीकरण 4. सहृदय 5. भोज्य–भोजक

स्व–मूल्यांकन : ख

1. सही 2. सही 3. गलत 4. सही 5. सही

12.10 पठनीय पुस्तकें

(1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा, हरियाणा ग्रंथ अकादमी पंचकूला, 2013

(2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2023

(3) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय, वाणी प्रकाशन, 2024

(4) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2019

रस–निष्पत्ति विषयक भट्टलोल्लट का मत

रूपरेखा

13.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
13.2 प्रस्तावना
13.3 रस–निष्पत्ति विषयक भट्टलोल्लट का मत
13.4 स्व–मूल्यांकन
13.5 सारांश
13.6 कठिन शब्द
13.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
13.8 उत्तर कुंजी
13.9 पठनीय पुस्तकें

13.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको रस–निष्पत्ति विषयक भट्टलोल्लट के मत से परिचित करवाना है।

प्रस्तुत अध्याय के अध्ययनोपरान्त आप रस–निष्पत्ति विषयक भट्टलोल्लट के मत को पूर्णतः समझ सकेंगे।

13.2 प्रस्तावना

'रस–निष्पत्ति' विषयक तमाम व्याख्याओं का आधार भरत मुनि का प्रसिद्ध रससूत्र ''तत्र विभावानुभावव्याभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'' है, अर्थात् विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस 'रससूत्र' में 'संयोग और निष्पत्ति' शब्द को अनेक कोणों से बाँचते हुए स्वयं भरत नजर आते हैं। अतः किसी सटीक अर्थवत्ता के अभाव में इन शब्दों ने 'रसप्रक्रिया' हेतु लम्बी यात्रा की है।

13.3 रस–निष्पत्ति विषयक भट्टलोल्लट का मत

सबसे पहले भरत ही निष्पत्ति को समझाते हुए पकवान की आस्वादता के सन्दर्भ से एक उदाहरण उठाते हैंः–

'यथा हि नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पतिर्भवति,
यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनैरौषधिभिश्च षाड्वादयो रसा निर्वर्त्यन्ते,
तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।''

अर्थात् जिस प्रकार विविध व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से (भोज्य) रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुड़ादि द्रव्यों, व्यंजनों, औषधियों से षाडवादि रस बनते हैं उसी प्रकार विविध भावों से युक्त होकर स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त करते हैं।

डॉ. नगेन्द्र ने इस निष्पत्ति–सूत्र को ठीक–ठीक लक्ष्य करते हुए लिखा है, ''यहाँ पहले उपवाक्य में 'रसनिष्पत्ति होती है', दूसरे में 'रस बनते हैं' और तीसरे में 'रसत्व को प्राप्त होते हैं'– इन तीन परस्पर सम्बद्ध क्रियाओं का प्रयोग किया गया है, इनके आधार पर निष्पत्ति का अर्थ है, बनना या होना, स्वरूप को प्राप्त होना।

नाट्यशास्त्र में 'संयोग' के ही अर्थ में 'उगपत', 'उपेत' शब्दों का भी प्रयोग मिलता है, दृष्टान्तों में इनके द्वारा 'सम्यक् योग' के अर्थ में और संयोग 'सम्यक् योग या संसर्ग' के अर्थ के निकट है। 'निष्पत्ति' के अर्थ में 'उत्पत्ति' या निर्मित की समझ में तर्क से निर्मिति ही अधिक सार्थक लगती है। उत्पत्ति शब्द (जिसका भरत ने अनेक स्थानों पर प्रयोग भी किया है) सही व्यावहारिक अर्थ नहीं दे पाता क्योंकि उत्पत्ति अभाव में भाव की स्थिति का द्योतक है जबकि रस–प्रक्रिया के अन्तर्गत यह स्थिति कदापि नहीं घटती। अपितु विविध भावों (विभावादि एवं व्यभिचारी) के संसर्ग

से पूर्व स्थित स्थायी भाव रसरूप में सिद्ध होते हैं। निर्मिति भी पूर्व स्थित स्थायी भावों के रसत्व प्राप्ति (नवरूप प्राप्ति) के अर्थ में ही अभीष्ट है।

भरत ने नाट्य सन्दर्भों में रस–धारणा का सूत्रपात करके रस की आनुषांगिक व्याख्या की एक परम्परा डाली, सम्भवतः यही कारण था कि भरत के बाद भामह, दण्डी, उद्भट आदि आचार्यों ने काव्य–धर्म के रूप में रस की महत्वपूर्ण चर्चा नहीं की है। रस की महत्वपूर्ण चर्चा का कार्य भरत से बहुत बाद भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टतौत, भट्टनायक आदि आचार्यों ने किया। भरत दार्शनिक भले ही न हों, मगर अपने 'नाट्यवेद' में वे अनेक योग और सांख्यपरक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करते दिखते हैं। सम्भवतः इसीलिए रस–चिन्तन नवीं शताब्दी में दार्शनिक चिन्तकों द्वारा अपनाया गया और शैव, सांख्य और वेदान्त की रोशनी में अनेक पक्षीय व्याख्याओं से जुड़ा।

भट्टलोल्लट के आधिकारिक ग्रन्थ का अभाव है तथापि उनकी चिन्तन–प्रक्रिया अभिनवगुप्त के उद्धरणों से हम तक पहुँचती है। अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' तथा 'ध्वन्यालोक लोचन' में भट्टलोल्लट को उद्धृत किया है। रससूत्र में प्रयुक्त 'निष्पत्ति' शब्द की सार्थकता 'उत्पत्ति' के अर्थ में प्रमाणित करने वाले भट्टलोल्लट को उत्पत्तिवादी माना गया है। भट्टलोल्लट के रस–निष्पत्तिपरक चिन्तन पर दण्डी, उद्भट आदि आचार्यों के रस मत का प्रभाव भी लक्षित होता है। इनके अनुसार 'विभावादि का जो संयोग अर्थात् स्थायी भाव के साथ, उससे रस की निष्पत्ति होती है– उन (विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि भावों) में से विभाव स्थायी भाव रूप चित्तवृत्ति की उत्पत्ति में कारण होते हैं। अनुभाव शब्द से यहाँ रसजन्य (कटाक्षादि रूप) अनुभाव विवक्षित नहीं हैं क्योंकि उन (रसजन्य अनुभावों) की गणना रस के कारणों में नहीं की जा सकती (वे तो रस के कार्यभूत होते हैं), अपितु (यहाँ रस के कारणभूत अनुभावों में रत्यादि स्थायी) भावों के ही जो (पीछे उत्पन्न होने के कारण) अनुभाव हैं (उनका ग्रहण विवक्षित है) और (निर्वेद आदि) व्यभिचारि भाव चित्तवृत्ति स्वरूप होने से–यद्यपि स्थायी भाव के साथ नहीं रह सकते किन्तु यहाँ उसके संस्कार रूप में विवक्षित हैं– इसलिए विभाव अनुभाव आदि से परिपुष्ट किया हुआ स्थायी भाव ही रस है और अपरिपुष्ट स्थायी भाव है। वह दोनों में रहता है। मुख्य रूप से अनुकार्य रामादि में रहता है तथा रामादि रूपता की प्रतीति होने के कारण नट में भी (रस की प्रतीति होती है)।''

'ध्वन्यालोक लोचन' में भी भट्टलोल्लट को अभिनवगुप्त ने उद्धृत किया है, ''पूर्वावस्था में जो स्थायी है वही व्यभिचारी के सम्पात इत्यादि के द्वारा परिपोष को प्राप्त होकर अनुकार्य में ही रस हो जाता है।''

भट्टलोल्लट की रस व्याख्या, एक दार्शनिक मीमांसक का चिन्तन है जिसमें उनकी वस्तुवादी दृष्टि बड़ी साफ है। वे विभावादि कारणों से रस की उत्पत्ति मानते हैं, इनके यहाँ ''स्थायी भाव तथा रस में मूलतः कोई भेद नहीं, उनमें भेद है केवल उपचिति और अनुपचिति का, अन्यथा दोनों एक हैं।'' रामादि में रस की प्रतीति मानना भी भट्टलोल्लट की एक मौलिक स्थापना है। राम के रूप का अभिनय आदि के द्वारा अनुसंधान करने वाले (अनुकरण करने वाले)

अभिनेता में भी रामानुरूप भावों का अस्तित्व होता है। राम और राम का अनुकरण करने वाले पात्र के बीच का सम्बन्ध 'प्रतीति' से कायम होता है। प्रतीति के द्वारा ही 'अभाव' में 'भाव' की स्थिति निर्धारित होती है। इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक भट्टलोल्लट मूल पात्र और नट का 'द्वैत' मानकर चलते हैं। सहृदय के पक्ष में यहीं अनेक अन्तर्विरोधों की स्थिति जन्म लेती है। मूल पात्र में नट अनुसंधान आदि के द्वारा जुड़ता है और प्रेक्षक इस जुड़ाव को 'आरोपित स्थिति' के रूप में आत्मसात करता है– ''अनुसंधान में एक ओर तो नट जानबूझकर अपने में राम का आरोप करता है तथा दूसरी ओर स्वयं को रामरूप समझने का अभिमान करता है। नट और सहृदय के प्रसंग में यही अनुसंधाान प्रतीति हो जाता है क्योंकि आंगिक एवं आहार्य अभिनयादि की तद्रूपता के कारण प्रेक्षक दोषवश (भ्रान्तिवश नहीं) नट पर राम का आरोप कर लेता है।'' इसी प्रक्रिया में भट्टलोल्लट रामादि का अनुकरण करने वाले पात्र में भी रस के आस्वाद की स्थिति मानते हैं।

भट्टलोल्लट कई बिन्दुओं पर बहुत अस्पष्ट हैं। दर्शक को नाटक के बाहर की वस्तु मानकर अभिनेता को अपने रस–विवेचन के केन्द्र में रखकर भट्टलोल्लट कई गाँठे डाल देते हैं। अभिनेता में मूल पात्र की मानसिकता की उत्पत्ति की कल्पना (अनुकरण मात्र से) रस (कार्य) की विभावादि (कारणों) की अनिवार्यता से बाँधना (तथा कार्य और कारण की समकालीनता को बाँचना) आदि मिलकर भट्टलोल्लट की रसधारणा को अस्पष्ट बनाते हैं। भट्टलोल्लट रस की उत्पत्ति की चर्चा करते हैं, प्रतीति (अनुकर्ता में) की चर्चा करते हैं, और इस उत्पन्न रस से प्रेक्षक को चमत्कृत मानते हैं। रस–व्याख्या की दिशा में यह पहला प्रयास है। इसलिए आश्चर्य नहीं कि काव्य के देहवादी विचारकों के कोश से कुछ शब्द इस चिन्तन में आ विराजे हों। फिर भी भट्टलोल्लट की मीमांसक रसदृष्टि कई कोणों पर अपनी नयी और महत्वपूर्ण पहचान रखती है। कम से कम वे रंगमंच को जीवन के यथार्थ के निकट ले आते हैं। मूल पात्र को नट के बहुत करीब लाकर विभावादि उत्पादकों से उत्पन्न स्थायी भावों की पुष्टि को रस मानते हैं।

13.4 स्व मूल्यांकन

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में आपने रस–निष्पत्ति विषयक भट्टलोल्लट के मत का अध्ययन किया है। अब आप निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर एवं रिक्त स्थान भरकर इस अध्याय से प्राप्त ज्ञान का मूल्यांकन करें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा। यदि आप इस मूल्यांकन में असमर्थ हैं तो आपको निराश होने की आवश्यकता नहीं। आप इस अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

स्व–मूल्यांकन : क – सही / गलत

1. भट्टलोल्लट की रस व्याख्या, एक दार्शनिक मीमांसक का चिन्तन नहीं है जिसमें उनकी वस्तुवादी दृष्टि बड़ी साफ है। (   )
2. रस की महत्वपूर्ण चर्चा का कार्य भरत से बहुत बाद भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टतौत, भट्टनायक आदि आचार्यों ने किया। (   )
3. प्रतीति के द्वारा ही 'अभाव' में भाव की स्थिति निर्धारित होती है। (   )

स्व मूल्यांकन : ख – रिक्त स्थान भरो

1) ––––––––––––––––––में 'संयोग' के ही अर्थ में 'उगपत', 'उपेत' शब्दों का भी प्रयोग मिलता है।

2) 'निष्पत्ति' के अर्थ में 'उत्पत्ति' या निर्मित की समझ में तर्क से ---------ही अधिक सार्थक लगती है।

3) ---------ने नाट्य सन्दर्भों में रस–धारणा का सूत्रपात करके रस की आनुषांगिक व्याख्या की एक परम्परा डाली।

4) ------------के द्वारा ही 'अभाव' में भाव की स्थिति निर्धारित होती है।

5) निर्मिति भी पूर्व स्थायी भावों के ------------प्राप्ति के अर्थ में ही अभीष्ट है।

13.5 सारांश

भट्टलोल्लट रस–निष्पत्ति की पूरी प्रक्रिया को तीन चरणों में पूर्ण हुई मानते हैं–

प्रथम, विभावों द्वारा स्थायी भावों की उत्पत्ति, दूसरे, अनुभाव द्वारा उसकी प्रतीति और तीसरे, व्यभिचारी द्वारा उसकी पुष्टि। डॉ रमेश कुन्तल मेघ ने इस पूरी प्रक्रिया के लिए लिखा है, ''विभाव के साथ उत्पाद्य–उत्पादक सम्बन्ध से स्थायी भाव उत्पन्न होते हैं, अनुभाव के साथ अनुमाप्य–अनुमापक सम्बन्ध से स्थायी भाव प्रतीत या अनुमित होते हैं, संचारी के साथ पोष्य–पोषक भाव सम्बन्ध से स्थायी भाव पुष्ट होते हैं। पुष्ट होकर पात्र तथा नट दोनों के स्थायी भाव ही 'रस' हो जाते हैं।''

13.6 कठिन शब्द

1) विभाव – आश्रय में विभाव उद्धीप्त करने वाला हेतु
2) अनुभाव– प्रभाव
3) उत्पति– उद्‌भव, आरंभ
4) प्रतीति– जानकारी, ज्ञान
5) अनुसंधान– अन्वेषण, खोज

13.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. रस–निष्पत्ति सूत्र विषयक भट्टलोल्लट के मत की व्याख्या कीजिए।

13.8 उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन : क

1. गलत 2. सही 3. सही

स्व–मूल्यांकन : ख

1. नाट्यशास्त्र 2. निर्मित 3. भरतमुनि 4. प्रतीति 5. रसत्व

13.9. पठनीय पुस्तकें

(1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा, हरियाणा ग्रंथ अकादमी पंचकूला, 2013

(2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकशन, वाराणसी, 2023

(3) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय, वाणी प्रकाशन, 2024

(4) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2019

रस–निष्पत्ति विषयक शंकुक का मत

रूपरेखा

14.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
14.2 प्रस्तावना
14.3 रस–निष्पत्ति विषयक शंकुक का मत
14.4 स्व–मूल्यांकन
14.5 सारांश
14.6 कठिन शब्द
14.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
14.8 उत्तर कुंजी
14.9 पठनीय पुस्तकें

14.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों ! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको रस–निष्पत्ति विषयक शंकुक के मत से परिचित करवाना है।

प्रस्तुत अध्याय के अध्ययनोपरान्त आप रस–निष्पत्ति विषयक शंकुक के मत से अवगत हो सकेंगे।

14.2 प्रस्तावना

रससूत्र की नाट्य सन्दर्भों में ही दूसरी महत्वपूर्ण व्याख्या शंकुक ने की है। शंकुक भट्टलोल्लट के समकालीन ही थे किन्तु इनकी व्याख्या में मीमांसा से अधिक तर्कों का आग्रह मिलता है, वस्तुतः शंकुक न्यायदर्शन में अच्छी पैठ रखते थे। उसी नजरिये से, उन्होंने रस–धारणा को गति दी है। उन्होंने न केवल रससूत्र की अपनी मौलिक व्याख्या की पेशकश की अपितु भट्टलोल्लट की स्थापना की कमजोरियों को झकझोरा और तब अपनी बात कही।

14.3 रस–निष्पत्ति विषयक शंकुक का मत

शंकुक के यहाँ भरत का रससूत्र 'अनुमितिवादी' विवेचना का आधार बना है। शंकुक ने रस–निष्पत्ति को रसानुमिति के अर्थ में ग्रहण किया है। सर्वप्रथम भट्टलोल्लट की निर्धारित रससूत्र–व्याख्या का खण्डन करते हुए शंकुक कहते हैं।

"विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गाभावेनावगत्युनुपपत्तेः, भावानां पूर्वमभिधेयता प्रसंगात् स्थितिदशायां लक्षणान्तर वैपर्य्यात, मन्दतरममाध्य स्थय्याद्यानन्त्यापत्तेः, हास्य रसे सोढ़ात्वा भावप्राप्तेः, कामावस्थासु दशस्वसंख्यरस भावादि प्रसंगात् शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात् तनुमान्द्यदर्शनं, क्रोधोत्साहरतीनां अमर्षस्थैर्यं सेवा विपर्यये हासदर्शनमिति विपर्यस्य दृश्यमानत्वाच्चे।"

इस प्रकार उपर्युक्त आठ आक्षेपों द्वारा शंकुक भट्टलोल्लट की सीमा को रेखांकित करते हैं। प्रथम आक्षेप उनका यह है कि विभावादि के अभाव में अनुपचित स्थायी भाव का ज्ञान सम्भव नहीं है, दूसरे भावों को पहले ही अभिधेयात्मक मानते हैं, तीसरे पूर्वस्थित स्थायी भावों को अन्यान्य भावों से परसंयोग की अपेक्षा ही क्या है? स्थायी को ही रसरूप मानने पर स्थायी की स्थिति और मात्रा भेद से तीव्र, मन्द, मन्दतर आदि अनेक भेदों को मानना जरूरी होगा। हास्य रस के छः भेद समाप्त हो जायेंगे, काम की दस दशाओं में अनेक भाव, रस–भेदों को मानना होगा, शोक की विलक्षणता (प्रारम्भ में कम और बाद में अधिक होने की स्थिति) के कारण करुण रसरूप में इसकी पुष्टि कैसे हो पायेगी, इसी क्रम में स्थायी भावों के उपचयन की स्थिति सर्वत्र सिद्ध नहीं है। रत्यादि की स्थिति को देखते हुए, स्थायी के उपचयन को रस मानने की स्थिति सही नहीं लगती।

शंकुक के ये सारे आक्षेप सही नहीं हैं। वस्तुतः शंकुक नैयायिक हैं, जो कार्य और कारण को पृथक्–पृथक् मानकर चलते हैं। यद्यपि अपनी 'असत्कार्यवादी' विचारधारा से ये कार्य को समवायिकारण से नित्य सम्बद्ध मानते हैं और इस विशेष दृष्टि के अनुसार 'उत्पत्ति' की सही प्रक्रिया को पाने की जानकारी उन्हें है। दो वस्तुओं के जुड़ाव की ठीक स्थिति जानकर वे समवाय सम्बन्ध की कल्पना कर सके।

मीमांसक ज्ञान की यथार्थता पर बल देते हैं जबकि न्यायवैशेषिक प्रमाणित ज्ञान के आग्रही हैं। इनके प्रत्यक्ष प्रमाण भी अन्य प्रमाणों पर निर्भर करते हैं। भट्टलोल्लट स्वयं प्रकाश ज्ञान की यथार्थता में आस्था रखकर अनुभव के धरातल से कारण–कार्य सम्बन्ध के द्वारा रस की 'उत्पत्तिवादी' धारणा प्रस्तुत करते हैं। वे राम को प्रमाण मानते हैं, इसी के अनन्तर राम और स्थायी भाव, नट और स्थायी भाव की दो समानान्तर रेखाओं में रस–विचार रखते हैं। नट अभिनयादि द्वारा मूलपात्र (राम) का अनुसंधान करता है तथा प्रेक्षक नट पर उस मूलभाव का आरोप और रस की उत्पत्ति होती है। मीमांसकों की ज्ञान की स्वयंप्रकाश सत्ता के नैयायिक विरुद्ध हैं, इनके पास 'अनुमान' का अपना तर्कशास्त्र है। उसी के आधार पर यह मानते हैं कि प्रेक्षक द्वारा ज्ञान का अनुमान का अपना तर्कशास्त्र है। उसी के आधार पर यह मानते हैं कि प्रेक्षक द्वारा ज्ञान का अनुमान किया जाता है। भट्टलोल्लट की अप्रत्यक्ष पात्र को प्रमाण मानकर चलने वाली रसधारणा से निष्पत्ति और पुष्टि को निकालकर 'अनुमिति' को अपने तर्कों से स्थापित करते हुए शंकुक 'अनुमितिवादी' रसचिन्तन की राह पर चले हैं। यहाँ उन्हें राम को प्रमाण मानने के बजाय कवि–कल्पित मानने की सुविधा हुई। यहीं भरत का रससूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारि', अनुमान के प्रतिज्ञा–हेतु–उदाहरण–उपनय और निष्कर्ष के पंचतत्वों की जमीन पर विकसित हुआ। इस व्याख्या में विभाव स्थायी भाव की कारणरूपता में, अनुभाव कार्यरूपता में तथा व्यभिचारी सहकारी तत्वरूपता में स्वीकृत हुए। शंकुक ने मूल पात्र की कल्पित स्थिति के स्वीकार में विभावादि को सीधे नट से जोड़ा (यह नट एक सांस्कृतिक शिक्षित संस्कारी प्राणी है), अब इन्हीं विभावादि के द्वारा नट में स्थायी भाव का अनुमान किया गया है जिसके फलस्वरूप प्रेक्षक में उत्पन्न आस्वाद स्थिति को रस माना गया। विभाव और रस के अन्तर्सम्बन्ध अनुमापक–अनुमाप्य सम्बन्ध हैं। भरत–सूत्र की निष्पत्ति यहाँ 'अनुमिति' है। स्थायी भावों का अनुमान विभावों (साधन) द्वारा होता है, ये विभाव कृत्रिम होते हुए भी कलात्मक सम्बन्धों के कारण कृत्रिम नहीं हैं। विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी तीनों भावों का नट अनुकरण करता है। इस अनुकरण प्रक्रिया के द्वारा स्थायी भाव अनुमित होती है– ''इस तरह विभावादि एवं स्थायी भाव के बीच व्याप्ति सम्बन्ध होता है तथा स्थायी भाव एवं रस के बीच अनुमिति ज्ञान।'' शंकुक का सूत्र कथन हैः

> **''तस्माद्धेतुभिर्विभावाख्यैः कार्यैश्चानुभावात्मभि सहकारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमार्नुकर्त्तुस्थत्वेन लिंगबलतः प्रतीयमानः स्थायिभावो मुख्य रामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः, अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः।''**

अर्थात् शंकुक स्पष्ट ही मानते हैं कि विभावादि कारण, अनुभावादि कार्य व्यभिचारी भावादि सहचारी कृत्रिम होते हुए भी कृत्रिम नहीं लगते और इनके द्वारा अभिनेता के स्थायी भाव की अनुमिति प्रेक्षक को होती है। स्थायी और विभावादि का संयोग अनुमापक–अनुमाप्य रूप में होता है, सुन्दर और समर्थ विभावादि कारणों से हुई अनुमिति वस्तुसौन्दर्य से युक्त होकर सामान्य लौकिक से भिन्न (उत्कृष्ट) प्रकार की होती है। इस प्रकार अनुमित होने वाले स्थायी के समर्थक शंकुक अनुकरण से रस–निष्पत्ति मानते हैं, इसलिए इनका रस–सिद्धान्त अनुकृति–सिद्धान्त भी कहा जाता है। अनुकरण के आधार पर प्राप्त इस रसप्रतीति के पक्ष में शंकुक चित्र–तुरंग न्याय का एक रूपक प्रस्तुत करते हैं और मानते हैं कि नट के मिथ्या अभिनय से रामादि के यथार्थ स्थायी का बोध 'संवादी भ्रम' के आधार पर होता है, वस्तुतः नाट्य प्रतीति सर्वथा मिथ्या भी नहीं हुआ करती क्योंकि नाट्यावलोकन के समय पात्रत्व का बोध हम तक मिथ्या, भ्रम अथवा सादृश्य से नहीं होता। शंकुक का कहना है कि यह बोध हमें चित्र–तुरंग न्याय से होता है। चित्र में अंकित घोड़े को घोड़ा समझना वस्तुतः भ्रम ही है किन्तु यही भ्रम शंकुक का संवादी भ्रम है– "यहाँ घोड़े और चित्रित घोड़े के बीच संवाद है।" कुल मिलाकर शंकुक की स्थापना यह है कि:

1. विभावादि कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम नहीं लगते,
2. विभावादि के सहयोग से, अनुमापक–अनुमाप्य संयोग से स्थायी भाव अनुमित होता है,
3. इस प्रकार अनुमित स्थायी मूलपात्र के स्थायी का अनुकरण होता है,
4. इस प्रकार से हुआ अनुकरण ही रस रूप होता है,
5. प्रेक्षक को मूल पात्रत्व का बोध चित्र–तुरंग न्याय से होता है और इस प्रक्रिया में मिथ्या वस्तु का बोध वास्तविक ही होता है,
6. रसप्रतीति (सम्पूर्णता में) प्रेक्षक की ही होती है।

कम से कम शंकुक रसानुभूति की प्रक्रिया में प्रेक्षक की सही स्थिति मानकर चले हैं। "इस प्रकार रसानुमिति के रूप में रस–निष्पत्ति को सामाजिक के भीतर स्वीकार करने के कारण शंकुक की रसप्रक्रिया का अधिकृत क्षेत्र सामाजिक तक फैल जाता है।" नाटक की चाक्षुष–प्रतीत के अन्तर्गत भरत के बाद शंकुक ही सामाजिक को महत्वपूर्ण मानते हैं।

शंकुक मत की सीमा का निर्देश भी समीक्षकों ने किया है। 'काव्यप्रकाश' की टीका लिखने वाले वामनाचार्य झल्लीकर ने माना है कि अनुमित्यात्मक अप्रत्यक्ष ज्ञान रस–रूप नहीं हो सकता किन्तु इस प्रकार के निषेध में कोई शक्ति नहीं है, अप्रत्यक्ष (प्रत्यक्षाश्रित) ज्ञान भी रस–रूप हो सकता है। चित्र–तुरंग–न्याय से अभिनेता में रामादि के ज्ञान का निषेध करते हुए भी कहा गया है, रामादि का बोध इस पद्धति से नहीं होता, साथ ही अभिनयादि के कौशल–सज्जा आदि से रस का पूर्ण आस्वाद हो जाता है, अनुमिति की शर्त अनिवार्य नहीं होती। इस प्रकार का निषेधात्मक तर्क देते समय समीक्षक प्रत्यक्ष ज्ञान के उपकरणों में मन को भूल जाता है, वस्तुतः किसी भी वस्तु के साक्षात्कार का प्रमाण मन होता है। मन में ज्ञान और अनुभव के संस्कार रक्षित होते हैं जिसमें निहित सादृश्य आदि विधानों से मन की वस्तुओं से सम्बद्ध संकल्प हुआ करते हैं और इस प्रकार की मानसिक प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए चित्र–तुरंग–न्याय से रसप्रतीति की स्थिति सर्वथा असंगत भी नहीं कही जा सकती। चित्र–तुरंग–न्याय की एकमात्र उल्लेखनीय सीमा नाट्यज्ञान की कवि–कल्पित सूक्ष्म स्थिति के निकट उसकी भौतिक लौकिकता है। चित्रांकित तुरंग का रूपक नाट्य प्रतीति के सन्दर्भ का अधिक अर्थवान उपकरण साबित नहीं होता यद्यपि जानकारी की दृष्टि से इसकी अपनी उपयोगिता है।

शंकुक की अनुकरणवादी धारणा को भी भट्टलोल्लट ने चुनौती दी है, वे पूरी तरह से नट द्वारा रामादि के अनुकरण की स्थिति का निषेध करते हैं और नट तथा दर्शक दोनों से ही रामादि की रति के अनुमान को काटते हैं। यद्यपि भट्टलोल्लट ने कहीं मूलपात्र से नट के तादात्म्य को एक श्रेष्ठ स्थिति माना है किन्तु आगे चलकर वे इसे सम्भव ही नहीं मानते। वे कहते हैं कि नट मूल पात्र की आन्तरिकता (स्थायी भावों) का अनुकरण की स्थिति का निषेध करते हैं और नट तथा दर्शक दोनों से ही रामादि की रति के अनुमान को काटते हैं। यद्यपि भट्टलोल्लट ने कहीं मूल पात्र से नट के तादात्म्य को एक श्रेष्ठ स्थिति माना है किन्तु आगे चलकर वे इसे सम्भव ही नहीं मानते। वे कहते हैं कि नट मूल पात्र की आन्तरिकता (स्थायी भावों) का अनुकरण कदापि नहीं कर सकता, वह अनुभाव और व्यभिचारी के प्रदर्शन द्वारा अभिव्यक्त होता है जिनके द्वारा दर्शक भावों को अनुमित करता है। यद्यपि श्री शंकुक का नट मूल पात्र के मूल भाव को आत्मसात नहीं करता तथापि वह नाटकीयता के अभ्यास में नाट्यशिक्षा एवं अन्य संस्कारों द्वारा उनका अनुकरण करता है, यह एक प्रकार का कलात्मक अनुकरण है और यह सर्वथा असम्भव नहीं है। शंकुक ने भट्टलोल्लट की उत्पत्तिवादी रस–व्याख्या के दोषों को निरस्त करने की अपनी कोशिश की है, इनकी व्याख्या नाट्य के कलात्मक अनुभव की गहरी छानबीन से जुड़ी रस व्याख्या है इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

14.4 स्व मूल्यांकन :

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में आपने रस–निष्पत्ति विषयक शंकुक के मत का अध्ययन किया है। अब आप निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर एवं रिक्त स्थान भरकर इस अध्याय से प्राप्त ज्ञान का मूल्यांकन करें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा। यदि आप इस मूल्यांकन में असमर्थ हैं तो आपको निराश होने की आवश्यकता नहीं। आप इस अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

स्व मूल्यांकन : क – रिक्त स्थान भरो

1) ––––––––––––––––––ने रस सूत्र की 'भुक्तिवादी' व्याख्या की।
2) ––––––––––––ने विभाव और रस के अन्तर्सम्बन्ध अनुमापक–अनुमाप्य सम्बन्ध है।
3) शंकुक ने रस–निष्पति को ––––––––––––––––––के अर्थ में ग्रहण किया है।
4) शंकुक ने ––––––––––––––––––की उत्पतिवादी रस – व्याख्या के दोषों को निरस्त करने की अपनी कोशिश की है।
5) शंकुक ––––––––––––––से रस–निष्पति मानते हैं।

स्व–मूल्यांकनः ख – सही / गलत

1. शंकुक के अनुसार विभावादि कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम नहीं लगते हैं। (   )
2. शंकुक का कहना है कि वह बोध हमें चित्र–तुरंग न्याय से होता है। (   )
3. शंकुक न्यायदर्शन में अच्छी पैठ नहीं रखते थे। (   )
4. शंकुक ने भरत–सूत्र की निष्पति को अनुमीति माना है। (   )

14.5 सारांश

शंकुक के बाद भरत रस सूत्र के तीसरे व्याख्याकार भट्टनायक हुए जिन्होंने रस सूत्र की 'भुक्तिवादी' व्याख्या की। अन्तिम चौथे प्रमुख व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने रस की 'अभिव्यक्तिवादी' व्याख्या की। अभिनवगुप्त के बाद रस–निष्पत्ति विषयक वादों–विवादों की स्थिति प्रायः समाप्तप्राय है तथापि रस विवेचन का क्रम शास्त्रीय क्रम में पंडितराज जगन्नाथ तक चलता है और उसके बाद आज तक रस चिंतन चर्चा में है। यह अलग बात है कि यह प्रायः अभिनवगुप्त को दुहराता या स्वीकार करता है।

14.6 कठिन शब्द

1) भौतिक– सांसारिक, लौकिक
2) चिंतन– ध्यान, स्मरण
3) असम्भव– जो संभव न हो
4) आन्तरिक– अंदर का
5) उपयोगिता– उपयोगी होना, उपयुक्तता

14.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. रस–निष्पत्ति विषयक शंकुक के मत की व्याख्या कीजिए।

____

____

____

____

____

14.8 उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन : क – 1. भट्टनायक 2. शंकुक 3. रसानुमिति 4. भट्टलोल्लट 5. अनुकरण

स्व–मूल्यांकन : ख – 1. सही 2. सही 3. गलत 4. सही

14.9 पठनीय पुस्तकें

1. रस सिद्धान्तः डॉ नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।
2. काव्य–तत्व विमर्शः डॉ राममूर्ति त्रिपाठी, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली।
3. भारतीय समीक्षा सिद्धान्तः डॉ सूर्य नारायण द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
4. प्राचीन भारतीय साहित्य मीमांसाः अशोक रा. केलकर, अनुवादः ह. श्री साने, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
5. रस और रस परम्पराः डॉ वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी, जगतराम एण्ड संस, दरियागंज, नई दिल्ली।

रस–निष्पत्ति सम्बन्धी अभिनवगुप्त की व्याख्या

रूपरेखा

15.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
15.2 प्रस्तावना
15.3 रस–निष्पत्ति सम्बन्धी अभिनवगुप्त की व्याख्या
15.4 स्व–मूल्यांकन
15.5 सारांश
15.6 कठिन शब्द
15.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
15.8 उत्तर कुंजी
15.9 पठनीय पुस्तकें

15.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको रस–निष्पत्ति सम्बन्धी अभिनवगुप्त की व्याख्या से परिचित करवाना है।

प्रस्तुत अध्याय के अध्ययनोपरान्त आप

– रस–निष्पत्ति सम्बन्धी अभिनवगुप्त की व्याख्या से परिचित हो सकेंगे।

– अभिनवगुप्त ने सात रस–विघ्नों की चर्चा की है, इसका ज्ञान भी प्राप्त कर सकेंगे।

15.2 प्रस्तावना

ध्वनिवादी आचार्य अभिनवगुप्त रस–सूत्र के चौथे व्याख्याकार है। भट्टलोल्लट, शंकुक एवं भट्टनायक के मतों के परीक्षण के पश्चात् अभिनवगुप्त ने रस–सूत्र की नयी व्याख्या प्रस्तुत की। अभिनवगुप्त ने खण्डन के स्थान पर संशोधन शब्द पर ज्यादा बल दिया। 'काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः' के रूप में प्रस्तुत भरत–सूत्र से अपने विवेचन की शुरुआत करते हैं और भट्टनायक के भावकत्व एवं भोजकत्व–व्यापारों को मिथ्या या भ्रांति सिद्ध करते हुए रस की ध्वन्यात्मकता या अभिव्यंजना को स्थापित करते हैं।

15.3 रस–निष्पत्ति सम्बन्धी अभिनवगुप्त की व्याख्या

अभिनवगुप्त भट्टनायक के मतों को स्वीकार नहीं करते हैं लेकिन उनके द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण के सिद्धान्त से वे प्रभावित अवश्य नजर आते हैं। यही कारण है कि उसे वे नयी एवं मौलिक व्याख्या के साथ उपस्थित करते हैं। अभिनव गुप्त के रस–निष्पत्ति विषयक विचार अभिनवभारती एवं ध्वन्यालोकलोचन में मिलते हैं, जिसमें वे स्वीकार करते हैं कि रस की स्थिति सहृदय की आत्मा में होती है, काव्य तो उसकी अभिव्यक्ति मात्र करता है। इसके साथ ही

अभिनवगुप्त भावकत्व एवं भोजकत्व को भ्रांति–रूप में मानते हुए व्यंजना और ध्वनि पर विशेष बल देते हैं। 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अभिव्यक्ति' तथा 'संयोग' का अर्थ 'व्यंग्य–व्यंजक भाव' मानते हुए इन्होंने भरत–सूत्र का जो अर्थ दिया है उसे बाद के आचार्यों ने काफी हद तक स्वीकारा है। इनके अनुसार – 'विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से व्यंग्य–व्यंजक भाव में रस की अभिव्यक्ति होती है।'

'अभिनवभारती' एवं 'ध्वन्यालोक लोचन' में प्रस्तुत इनके मतों के आलोक में ही इनकी रस–निष्पत्ति संबंधी व्याख्या का विवेचन करना ज्यादा उचित होगा। इसलिए पहले उन पर प्रकाश डालना आवश्यक है। 'अभिनव भारती में कहा गया है कि–

'तत्काव्यार्थो रसः। ...काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकास्ति प्रतिपत्तिः।'

अर्थात् वही काव्यार्थ रस है। काव्यातमक वाक्य से भी (काव्य से) अधिकारी सह्रदय व्यक्ति को (सामान्य वाक्यार्थ–ज्ञान मात्र से) अधिक ही (रसात्मक व्यंग्यार्थ की) प्रतीति होती है।

वे आगे भी लिखते हैं कि– "अतएव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्तिः सुतरां रसपरिपोषाय।

सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्। सा चाविघ्ना संवित् चमत्कारः। कृ सर्वथा रसनात्मक–वीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः। तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभश्तयः।"

अर्थात्– (विभावादि का साधारणीकरण सिर्फ परिमित रूप में नहीं होता बल्कि वास्तव में विद्यमान तथा काव्य में वर्णित देश, काल, प्रमाता आदि को नियामक हेतुओं के बंधन से अलग कर देने पर साधारणीकरण व्यापार ज्यादा पुष्ट होता है) इसीलिए समस्त सामाजिकों को एक रूप में ही प्रतीति होती है जो रस के लिए अत्यन्त परिपोषक हो जाती है। अनादि संस्कारों द्वारा चित्रित चित्त वाले सारे सामाजिकों की एक जैसी वासना होने के कारण (सबको एक जैसी ही रस–प्रतीति होती है) और वह विघ्नों से सर्वथा रहित प्रतीति 'चमत्कार' कहलाती है।... प्रत्येक दशा में (सर्वथा) आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य 'भाव' ही रस है। उसमें आने वाले विघ्नों के अपसारक (दूर करने वाले) विभावादि होते हैं।

'ध्वन्यालोकलोचन' में भी रस की प्रतीति से संबंधित सवालों पर विचार किया गया है। वहाँ कहा गया है कि–

1. 'चित्रवासनाविशिष्टत्वाच्चेतसः।'

   अर्थात्– चित्त में विचित्र प्रकार की वासनाओं की विशिष्टता होती है।

2. 'सा च रसनारूपा प्रतीतिरत्पद्यते। वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविवक्तिो व्यंजनात्मा ध्वननव्यापार एव। भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव, नान्यत्किंचित्। भावकत्वमपि समुचितगुणालंकारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव।'

तात्पर्य यही है कि प्रतीति–रस की प्रतीति आस्वादनरूप में उत्पन्न होती है। वाच्य–वाचक का तो वहाँ पर अभिधा से पृथकभूत व्यंजनात्मक ध्वनन व्यापार ही होता है। काव्य का भोगकरण व्यापार रस–विषयक ध्वन्यात्मक ही होता है और कुछ नहीं। भावकत्व भी समुचित गुणालंकारपरिग्राहात्मक (ही होता है)।

3. 'न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम् अर्थापरिज्ञाने तदभावात्। न च केवलानामर्थानाम्, शब्दान्तरेणार्प्यमाणत्वे तदयोगात्। कृतस्माद्व्यंजकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालंकारौचित्यादिकयेति कर्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति। ...कृतस्मात्स्थितमेतत्– अभिव्यज्यन्ते रसाः प्रतीत्यैव च रस्यन्त इति।' अर्थात्–केवल काव्य शब्दों का ही भावकत्व नहीं होता, क्योंकि अर्थ के न जानने पर वह होता ही नहीं (अर्थात् अर्थ–परिज्ञान भी आवश्यक है)। केवल अर्थों का भी नहीं होता क्योंकि दूसरे शब्दों से अर्पण करने पर वह नहीं होता। ...अतएव व्यंजकत्व नाम के

व्यापार से गुण तथा अलंकार के औचित्य वाली इतिकर्त्तव्यता से भावक काव्य–रसों को भावित करता है। . ...इससे स्थित है (सिद्ध है) कि रस अभिव्यक्त ही होते हैं और प्रतीति के द्वारा ही आस्वादगोचर होते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अभिनव गुप्त की दृष्टि में सर्वथा आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस हैं। जो अनेकानेक कारणों एवं प्रभावों से साधारणीकृत होकर सामने आता है। वे यह भी मानते हैं कि अन्ततः रस की प्रतीति तो सहृदय की आत्मा में ही होती है लेकिन वह सिर्फ व्यक्तिगत भी नहीं कही जा सकती। इसलिए जब साधारणीकरण का सवाल सामने आता है तब स्पष्ट रूप से कहना पड़ता है कि साधारणीकरण की प्रक्रिया सिर्फ व्यष्टि के धरातल पर ही घटित नहीं होती है बल्कि समष्टि के धरातल पर भी। अभिनव गुप्त यह भी मानते हैं कि स्थायी भाव की स्थिति संस्कार–रूप में सहृदय में पहले से रहती है। वे संस्कार–रूप होते हैं इस कारण समान भी होते हैं–क्योंकि अनादि संस्कारों से युक्त चित्त वाले सभी सामाजिकों में एक ही जैसी वासना होती है।

अभिनवगुप्त के मत में यह भी स्पष्ट है कि काव्यात्मक शब्द से (वाक्य से) सहृदय व्यक्ति को या सामाजिक को अभिधार्थ या सामान्य अर्थ–बोध (वाच्यार्थज्ञान) से अधिक की प्रतीति होती है। यहाँ अन्तर इस रूप में है कि यह प्रतीति वाक्यादि में गृहीत कालादि से मुक्त साधारणीकृत होती है और साक्षात्कारात्मिका होती है। अर्थात् मन की आँखों के समक्ष (कल्पना में ही सही) चित्र जैसा अंकित हो जाता है। अभिनव की दृष्टि में रस के वैशिष्ट्य के कई अन्य कारण भी हैं। अभिनव के मत में यह तो स्पष्ट है कि वे भट्टनायक के भावकत्व एवं भोजकत्व की नयी व्याख्या देते हैं। डॉ नगेन्द्र ने इस पक्ष की व्याख्या की है और इन दोनों व्यापारों पर समानान्तर रूप से प्रकाश डाला है–

1. "प्रत्येक व्यापार के तीन अंग होते हैंः करण, फल और इन दोनों की मध्यवर्तिनी इतिकर्त्तव्यता। अभिनव के मत से प्रस्तुत व्यापार में फल है साधारणीकरण, इतिकर्त्तव्यता है उचित गुणालंकार का समावेश और करण है ध्वनन अर्थात् शब्दार्थ की व्यंजना शक्ति।" इस प्रकार भावकत्व व्यापार का मूल प्राण या मूल आधार या मूल लक्ष्य ध्वनन या व्यंजना ही है।

2. "भोजकत्व की शक्ति तो शब्दार्थ में मानी ही नहीं जा सकतीश् वह तो चित्त की क्रिया है – वस्तुतः रसास्वादन और भोग दोनों की स्थिति अभिन्न है। शब्दार्थ इस क्रिया का प्रेरक मात्र है और यह शक्ति भी उसे व्यंजना से ही प्राप्त होती है। इसी कारण विभावादि का साधारणीकरण हो जाने से सहृदय का चित्त 'निजमोहसंकट' से मुक्त होकर भाव के भोग में समर्थ होता है।" और इस प्रक्रिया में भी व्यंजना की ही प्रमुखता है।

स्पष्टतः अभिनवगुप्त ने स्वीकार किया है कि आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य स्थायी भाव ही रस होते हैं और ये स्थायी भाव अनादि–वासना के रूप में सामाजिक या प्रेक्षक या सहृदय के चित्त में विद्यमान रहते हैं। काव्य के अन्तर्गत या नाट्य में विभावादि से युक्त होने पर वे ही अभिव्यक्त होकर रस में परिणत हो जाते हैं। अतः विभावादि व्यंजक हैं और स्थायी भाव व्यंग्य है–दूसरे शब्दों में कहें कि रस भी व्यंग्य है। इस प्रकार निष्पत्ति का अर्थ हुआ–अभिव्यक्ति तथा संयोग का अर्थ हुआ व्यंग्य–व्यंजक सम्बन्ध।

अभिनवगुप्त ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की त्रुटियों एवं कमियों को लक्षित किया था। इसलिए उन्होंने रस–परिपोष के लिए सामाजिक में अनादिवासना की कल्पना की और वासना–संवाद को ही रस का प्रधान हेतु माना। इन वासनागत संस्कारों को प्रकृत रूप में विद्यमान स्थायी भाव कहा जाता है। और ये स्थायी भाव सभी में कमोवेश रूप में विद्यमान होते हैं। अभिनव गुप्त ने अपने इस मत को प्रमाणित करने के लिए कालिदास के श्लोक को सामने रखा जिसमें संस्कार रूप में विद्यमान स्थायीभाव के जाग्रत होने की स्थिति की ओर संकेत किया गया है –

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशाम्य शब्दान्।
पर्युत्सुकीभवति सत्ययुखितोऽपि जन्तुः।
तच्वेसा स्मरति नूनमबोध पूर्वम्
भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि।।

इस प्रमाण के आधार पर अभिनवगुप्त यह सिद्ध करते हैं कि ये ही स्थिर भाव रम्य वस्तु को देखकर या मधुर शब्दों को सुनकर जाग उठते है। और सामाजिक अपने भावों के जागने (व्यक्त होने) पर ही रसानुभूति करता है। निस्संदेह रसास्वादन के लिए वासना–रूप मे विद्यमान भावों की जागृति आवश्यक होती है लेकिन यह भी आवश्यक है कि सामाजिक अभ्यासी, अनुभवी एवं सहृदय हो। साथ ही अभिनवगुप्त ने यह भी चाहा है कि सामाजिक का हृदय वीतविघ्न हो, क्योंकि रसास्वाद के लिए वीतविघ्न होना आवश्यक है। शायद इसीलिए उन्होंने रस विघ्न पर भी प्रकाश डाला है। कविरसिकहृदयसंवादरूप व्यापार ही रस–प्रतीति है और काव्य अथवा नाट्य इसका माध्यम है तो जाहिर है कि निर्विघ्न रसात्मक प्रतीति में बाधक स्थितियाँ भी इन्हीं (अर्थात् कविगत, काव्यगत, नटगत अथवा सहृदयगत) से जुड़ी होंगी। अभिनवगुप्त ने सात रस–विघ्नों की चर्चा की है –

1. संभावना विरह
2. स्वपरगतदेशकालविशेषावेश
3. निजसुखाादिविवशीभाव
4. प्रतीत्युपायवैकल्य
5. स्फुटत्वभाव
6. अप्रधानता
7. संशययोग

संभावना – विरह का तात्पर्य – कल्पना के अभाव से है। यह विघ्न कविगत भी हो सकता है और सामाजिक या सहृदयगत भी। जहाँ पर इनमें से कोई भी स्थिति बनी रहेगी वहाँ हृदय–संवाद की सहजता नहीं बनेगी। वस्तुतः कवि की कृति में कल्पना का अभाव हो तो भी और कृति अच्छी हो पर रसिक की कल्पना ऊँची न हो तो भी, दोनों स्थितियों में सामाजिक में हृदय–संवाद की स्थिति पैदा नहीं होगी। इसलिए यह रस–विघ्न है। और जरूरी होता है कि इस रस–विघ्न का अपसरण किया जाए ताकि हृदय–संवाद की स्थिति जन्म ले।

स्वपरगतदेशकालविशेषावेश मूलतः रसिकगत विघ्न है। ऐसे रसिक जो काव्य या नाट्य में 'स्व' या 'पर' की कल्पना करके चलते हैं और उसी के आधार पर रसास्वाद करना चाहते हैं वे सच्चे रसास्वादन की स्थिति तक नहीं पहुँच सकते हैं क्योंकि इनका व्यक्तित्व – 'स्व' एवं 'पर' की सीमाओं में बँधे होने के कारण–विगलित नहीं होता और उसके परिणामस्वरूम साधारणीकरण की क्रिया घटित नहीं होती। इस विघ्न की चर्चा के बीच अभिनवगुप्त ने 'गोपनेच्छ' रसिकों की भी चर्चा की है जो कि छिपकर देखते या पढ़ते हैं और जिनकी दृष्टि हमेशा इस बात पर रहती है कि कोई उन्हें देख तो नहीं रहा है। जाहिर है कि दृष्टि गोपन पर ज्यादा होती है अतः रसास्वाद की स्थिति नहीं बन पाती है।

प्रायः देखा जाता है कि दर्शक या श्रोता अपने सुख–दुःख में ही तल्लीन रहता है तथा इसी तल्लीनता की मनोदशा के साथ वह नाटक देखने या काव्य को सुनने या पढ़ने में प्रवृत्त होता है। ऐसी दशा में उसकी पहले से विद्यमान

सुख–दुःखादि की प्रवृत्तियाँ ज्यादा जाग्रत होंगी, वह व्यग्र होगा और रसास्वादन की प्राप्ति के लिए जिस विश्रांति की जरूरत होती है उससे वह नहीं जुड़ पायेगा। इसे ही 'निजसुखादि विवशीभाव' विघ्न माना गया है।

विभावानुभाव ही रस की प्रतीति में सहायक होते हैं इसलिए यदि इनमें वैकल्प है अर्थात् संगति का अभाव है तो रसास्वादन की स्थिति जन्म नहीं ले सकती है। और इसी को 'प्रतीत्युपायवैकल्य' विघ्न के रूप में जाना जाता है।

काव्यास्वाद या रसास्वाद के लिए रसिक की संविद्विश्रांति जरूरी है। और इसमें विभावादि का सर्वाधिक योग होता है। इसलिए उसकी प्रतीति भी स्फुट होनी चाहिए। स्फुट प्रतीति के अभाव में पूर्ण रसास्वादन की कल्पना नहीं की जा सकती। यह विघ्न द्विपक्षीय है।

'अप्रधानता' से तात्पर्य है काव्य या नाट्य में मुख्य को छोड़कर गौण पर दृष्टि केन्द्रित करना। यह रस–विघ्न के रूप में फलीभूत होता है। काव्य या नाटक में जब भी अप्रधान पर अर्थात् गौण पर बल दिया जायेगा तब उसका मुख्य प्रभाव नेपथ्य में चला जाएगा और गौण रूप की प्रधान रूप में सामने आएगा जिससे सच्चे रसास्वाद को नहीं प्राप्त किया जा सकता।

रस–प्रतीति में विभावनुभावादि को महत्वपूर्ण योग होता है और इन्हीं के द्वारा स्थायी भाव अभिव्यक्त होता है। किन्तु एक स्थायी भाव के साथ विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव प्रयुक्त होते हैं। यदि उनके बीच पर्याप्त संगीत नहीं है तो वे संशय को जन्म देंगे और रसास्वाद में विघ्न उपस्थित होगा। इसलिए तीनों की संगति काव्य या नाटक में आवश्यक होती है। जैसे – बंधुनाश रूप विभाव, अश्रुपात रूप अनुभाव तथा चिन्ता एवं दैन्य रूपी व्यभिचारी भाव यदि एक साथ प्रयुक्त होते हैं तो निश्चय ही शोक की ही प्रतीति होगी। इसलिए संगत संयोग की जरूरत पर बल दिया जाता है।

अभिनव गुप्त मानते हैं कि काव्य या नाटक में जहाँ कहीं भी उपर्युक्त सातों विघ्नों का अभाव मिलता है वहाँ रसास्वादन या रस–निष्पत्ति की स्थिति स्वतः ही जन्म ले लेती है। उचित रूप में, संगत रूप में आने वाले विभावादि ही रसिक के हृदय में सही रसनाव्यापार की निष्पत्ति करा सकते हैं और तभी वह निर्विघ्न रस की प्रतीति में सफल हो सकता है। 'ध्वन्यालोकलोचन' में कहा भी गया है कि – रस चर्वणा के लिए रसिक का हृदय–संवाद होना आवश्यक है। और हृदय–संवाद तभी संभव है जब सातों रस–विघ्नों को दूर रखा जाए।

कहा जा सकता है कि अभिनवगुप्त ने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों के विश्लेषण के पश्चात् ही 'अभिव्यक्तिवाद' के सिद्धान्त को स्थापित किया और इस सिद्धांत–स्थापना के पीछे उनका सबल तर्क है। अभिनव गुप्त की मान्यताओं को सूत्र–रूप में इस प्रकार देख सकते हैं –

1. अभिनवगुप्त की दृष्टि में रस की निष्पत्ति सामाजिक में होती है।
2. स्थायीभाव वासना या संस्कार–रूप में पहले से ही सामाजिक में विद्यमान होते हैं।
3. जो स्थायी भाव वासना या संस्कार के रूप में सामाजिक में विद्यमान होते हैं, वे ही विभावादि के द्वारा साधारणीकृत होकर अभिव्यक्त हो जाते हैं। यह क्रिया वैसे ही घटित होती है जैसे मिट्टी, जल और गंध के बीच घटित होती है। विभावादि के संयोग से रस वैसे ही अभिव्यक्त होता है जैसे जल के छींटे पड़ने से मिट्टी की अव्यक्त गंध स्वतः ही व्यक्त हो जाती है।
4. काव्य या नाटक सहृदय के स्थायी भाव को जाग्रत करने के साधन या माध्यम हैं, जिनमें सहृदय की वृत्तियाँ एकाग्र होकर रस रूपी ब्रह्मास्वाद को प्राप्त करती हैं।

5. अभिनव गुप्त के अनुसार 'संयोग' का अर्थ 'व्यंग्य–व्यंजक भाव' है तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अभिव्यक्ति' है।
6. सामाजिक के हृदय में वासना–रूप में स्थित भाव विभावादि के माध्यम से व्यंग्य–व्यंजक भाव से अभिव्यक्त होती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि "शैवाद्वैत में प्रतिपादित आनन्दवाद के पुष्ट आधार पर उन्होंने (अभिनवगुप्त ने) जिस आत्मास्वाद–रूप–रस की प्रकल्पना की थी उसने रस–सिद्धान्त को पूर्णतया आवेष्टित कर लिया। ...अभिनव ने ही सर्वप्रथम रस के एकांत सहृदय–निष्ठ रूप की प्रतिष्ठा की। ...उसे शैव आनन्दवर्धन का दृढ़ आधार प्रदान कर सर्वथा प्रामाणिक सिद्ध कर दिया। ....अद्वैत सिद्धांत के आत्मानंद के साथ आनंदवर्धन के व्यंजनावाद का सहज समन्वय कर अभिनव ने रस की अनुभूति और अभिव्यक्ति का संश्लिष्ट सिद्धांत प्रतिपादित किया।'' (नगेन्द्रः रस–सिद्धान्त)

15.4 स्व मूल्यांकन

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में आपने रस–निष्पत्ति विषयक अभिनवगुप्त की व्याख्या का अध्ययन किया है। अब आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरकर एवं प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर इस अध्याय से प्राप्त ज्ञान का मूल्यांकन करें। यदि आप इस मूल्यांकन में असमर्थ हैं तो आपको निराश होने की आवश्यकता नहीं। आप इस अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

स्व मूल्यांकन : क – रिक्त स्थान भरो

1) अभिनवगुप्त ने खण्डन के स्थान पर ––––––––––––––शब्द पर बल दिया।
2) ––––––––––––––––भावकत्व एवं भोजकत्व को भ्रांति रूप में मानते हुए व्यंजना और ध्वनि पर विशेष बल देते हैं।
3) अभिनवगुप्त के अनुसार विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से ––––––––––––––भाव में रस की अभिव्यक्ति होती है।
4) काव्यास्वाद या रसास्वाद के लिए –––––––––––––––की संविद्श्रांती जरूरी है।
5) रस–प्रतीति में विभावनुभावादि का महत्वपूर्ण योग होता है और इन्हीं के द्वारा ––––––––––––––––अभिव्यक्त होता है।

स्व–मूल्यांकनः ख – सही / गलत

1. अभिनवगुप्त की दृष्टि में रस की निष्पत्ति सामाजिक में विद्यमान होते हैं। (   )
2. अभिनवगुप्त के अनुसार संयोग का अर्थ व्यंग्य–व्यंजक भाव है तथा निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति है। (   )
3. अभिनवगुप्त यह नहीं मानते हैं कि स्थायी भाव की स्थिति संस्कार रूप में सहृदय में पहले से रहती है। (   )
4. अभिनव ने ही सर्वप्रथम रस के एकांत सहृदयनिष्ठ रूप की प्रतिष्ठा की। (   )
5. अभिनवगुप्त की दृष्टि में सर्वथा आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है। (   )

15.5 सारांश

निस्सन्देह सामाजिक की महत्ता, वासनागत संस्कार, रस–विघ्न एवं उनका शमन, साधारणीकरण की नयी व्याख्या, रसानुभूति में विभावादि का योग जैसे अनेक पक्षों पर अभिनवगुप्त ने मौलिक ढंग से सोचा–विचारा है तथा दर्शन की पृष्ठभूमि के साथ जोड़कर रस–निष्पत्ति से संबंधित नवीन एवं मौलिक सिद्धांत को प्रतिपादित किया। सामाजिक के साथ रस के संबंध को जोड़कर उसको व्यापक बनाया और वासनागत स्थायी भाव की रसात्मक अभिव्यक्ति का सिद्धांत मानते हुए अनुभूति पर भी बल दिया। इस सिद्धांत के आधार पर अभिनवगुप्त ने व्यंजना के महत्त्व को स्थापित किया। कुल मिलाकर अभिनवगुप्त की 'रस–निष्पत्ति' सम्बंधी व्याख्या सभी व्याख्याओं में श्रेष्ठ एवं तर्कपूर्ण है।

15.6 कठिन शब्द

1) खंडन– विभाजित करना
2) मंडन– सजाना
3) संशोधन– शुद्ध करना
4) पृष्ठभूमि– भूमिका
5) मौलिक– वास्तविक

15.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 'रस–निष्पत्ति' विषयक मतों की संक्षिप्त समीक्षा कीजिए।

____
____
____
____
____

2. 'रस–निष्पत्ति' सम्बन्धी भरत–सूत्र को प्रस्तुत करते हुए उसमें प्रयुक्त 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्द की संस्कृत आचार्यों ने जो विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं, उन्हें स्पष्ट कीजिए।

____
____
____
____
____

3. 'रस–निष्पत्ति' क्या है ? इस सम्बन्ध में भट्टनायक और अभिनवगुप्त के मतों को प्रस्तुत कर उनकी समीक्षा कीजिए।

4. 'रस–निष्पत्ति' संबंधी भट्टलोल्लट के मत की व्याख्या करते हुए उसकी शक्तियों एवं सीमाओं पर प्रकाश डालिए।

5. 'रस–निष्पत्ति' संबंधी भट्टलोल्लट और शंकुक के मतों का तुलनात्मक विवचेन करते हुए यह बताइये कि आप किसके मत को अधिक संगत समझते हैं।

6. 'रस–निष्पत्ति' विषयक मतों की समीक्षा करते हुए यह स्पष्ट कीजिए कि वे एक दूसरे के विरोधी हैं या पूरक?

7. 'साधारणीकरण' का रसानुभूति में क्या स्थान है? क्या साधारणीकरण के स्वरूप के विषय में प्राचीन आचार्यों एवं आधुनिक आलोचकों के मतों में कुछ भेद हैं ?

8. 'साधारणीकरण' का अर्थ स्पष्ट करते हुए तद्विषयक प्राचीन एंव नवीन मान्यताओं की विवेचना कीजिए।

9. 'साधारणीकरण' की व्याख्या करते हुए स्पष्ट करें कि साधारणीकरण किसका होता है ?

10. 'रसानुभूति' के लिए सत्वोद्रेक और आत्मप्रकाश आवश्यक है और यह रसानंद ब्रह्मस्वाद सहोदर है।' इस कथन की व्याख्या कीजिए।

11. ''साधारणीकरण तो कवि अथवा भावुक की चित्रवृत्ति से संबंध रखता है। चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।'' इस कथन की समीक्षा कीजिए।

12. साधारणीकरण किसका और कैसे होता है? इस प्रश्न पर विचार किजिए।

13. 'रस का आरोपण नहीं होता जैसा भट्टलोल्लट मानते हैं, वह अनुमित भी नहीं होता जैसे शंकुक स्थापित करते हैं, रस की अभिव्यक्ति भी नहीं होती जो ध्वनिकार की निष्पत्ति है। रस की तो भुक्ति होती है,उसका आस्वादन होता है।' इस निष्कर्ष की पृष्ठभूमि में भट्टनायक के योगदान की समीक्षा कीजिए।

14. टिप्पणी रूप में विचार करें –

क. भावकत्व–भोजकत्व व्यापार पर प्रकाश डालिए।

ख. भट्टलोल्लट का आरोपवाद

ग. 'संयोग' और 'निष्पत्ति' के विविध अर्थ

घ. साधारणीकरण विषयक शुक्ल जी के विचार।

ड. रस–विघ्न

च. भट्टनायक का 'भुक्तिवाद'

छ. साधारणीकरण

ज. सहृदय की अवधारणा

झ. 'संयोग' एवं 'निष्पत्ति' विषयक अभिनवगुप्त की मान्यता।

ञ. 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'

ट. चित्रतुरंगादि न्याय

ठ. सहृदय की भूमिका

15.8 उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन : क 1. संशोधन 2. अभिनवगुप्त 3. व्यंग्य–व्यंजक 4. रसिक 5. स्थायी भाव

स्व–मूल्यांकन : ख 1. सही 2. सही 3 .गलत 4. सही 5. सही

15.9 पठनीय पुस्तकें

(1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा, हरियाणा ग्रंथ अकादमी पंचकूला, 2013

(2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकशन, वाराणसी, 2023

(3) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय, वाणी प्रकाशन, 2024

(4) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2019

साधारणीकरण संबंधी भट्टनायक का विवेचन

रूपरेखा

16.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
16.2 प्रस्तावना
16.3 साधारणीकरण संबंधी भट्टनायक का विवेचन
16.4 स्व–मूल्यांकन
16.5 सारांश
16.6 कठिन शब्द
16.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
16.8 उत्तर कुंजी
16.9 पठनीय पुस्तकें

16.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों ! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको साधारणीकरण के विषय में जानकारी देना तथा साधारणीकरण संबंधी भट्टनायक के विवेचन से परिचित करवाना है।

प्रस्तुत अध्याय के अध्ययनोपरान्त आप

– साधारणीकरण के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

– साधारणीकरण संबंधी भट्टनायक का विवेचन कर सकेंगे।

16.2 प्रस्तावना

'साधारणीकरण' का प्रत्यय सर्वप्रथम भट्टनायक के रस विवेचन में प्राप्त होता है। इसके अन्तर्गत वे रस व्यापार के भीतर सामाजिक के प्रवेश तादात्म्य और भोग की स्थिति का विश्लेषण करते हैं। भरतमुनि के 'विभावानुभाव्यभिचारिसंयोगद्रसनिष्पत्तिः' नामक रस सूत्र की व्याख्या करने वाले चार प्रमुख आचार्य हुए हैंः–

1. भट्टलोल्लट
2. श्रीशंकुक
3. भट्टनायक और
4. अभिनवगुप्त

16.3 साधारणीकरण संबंधी भट्टनायक का विवेचन

इस प्रकार भट्टनायाक तीसरे ऐसे रसवादी आचार्य हैं जो भट्टलोल्लट और शंकुक की रस निष्पत्ति संबंधी व्याख्याओं का खण्डन करते हुए अपना मत प्रस्तुत करते हैं। भट्टनायक द्वारा लिखित मूलग्रन्थ 'हृदयदर्पण' उपलब्ध नहीं है किन्तु

अभिनवगुप्त के 'ध्वन्यालोक' तथा 'अभिनव भारती' नामक ग्रन्थों में इनकी स्थापनाओं का पूर्वपक्ष के रूप में अभिनवगुप्त द्वारा उपयोग किया गया है तथा इसी संदर्भ में इनकी मूल स्थापनाएं भी सामने आयी हैं। भट्टनायक अपने तर्कन्याय से 'रस' को प्रयत्नपूर्वक कई अन्तर्विरोधों से मुक्त करके उसे आन्तरिक सत्ता में बदल देते हैं।

सांख्यवादी रसचितंक भट्टनायक का समय नौवीं, दसवीं शती के आस—पास अनुमानित है। इनके द्वारा प्रस्तुत रस सूत्र की व्याख्या में पहली बार 'सामाजिक' या प्रेक्षक की धारणा उभर कर सामने आती है। काव्य और नाट्य के बीच प्रीति दृष्टि कायम कराने का ऐतिहासिक कार्य भी भट्टनायक ने किया है। रसवादी आचार्यों के लिए भरतमुनि के रस सूत्र में व्याख्या, विश्लेषण और अर्थ की अपार सम्भावनाएं निहित हैं तथा वे अपने—अपने चिंतन एवं दार्शनिक मान्यताओं के अनुरूप इसका विवेचन विश्लेषण करते दिखाई देते हैं। भरतमुनि के रस सूत्र में रस 'नाट्यास्वाद' के रूप में परिभाषित है। उनके अनुसार रस 'आस्वाद्य' है, जबकि हर्षादि भाव 'आस्वाद' हैं। इसे समझाने के लिए भरतमुनि व्यंजन परिपाक का एक दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि 'गुड़ादि के योग से निर्मित व्यंजनों से उत्पन्न आस्वाद्य रस की भांति स्थायीभाव, विभाववादी के सम्यक् योग्य से आस्वाद्य रूप में रस निष्पन्न होता है'। अतः भरत द्वारा प्रवर्तित रस की प्रतीति अनिवार्यतः स्थायी भावों की प्रकृति से जुड़कर चलती है। भरतमुनि रस की निष्पन्नता में भावों की अनिवार्य भूमिका मानते हैं। उनके अनुसार –

नाना द्रव्यै बहुविधैर्व्यैजनं भाव्यते यथा।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह।।

भरतमुनि के अनुसार भाव और रस परस्पर एक दूसरे को अभिव्यक्त करते हैं। इसी क्रम में भरत ने भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव का अर्थ बतलाते हुए कहा है कि 'रस निष्पत्ति' में इन्हीं का सुसंगत सन्नियोग होता है। भाव के लिए उनका संज्ञान है कि यह वाणी, अंग और सत्त्व के मिले हुए काव्य के अर्थों को भावित करते हैं। भट्टनायक के 'भावकत्व' व्यापार के बीज मुनिभरत की भाव विषयक अवधारणा में देखे जा सकते हैं। विभाव से उनका तात्पर्य 'विशेष विज्ञातम्' से है। अनुभाव रस या अर्थ को अनुभावित करता है तथा व्यभिचार भाव, वाणी, अंग और सत्त्व से प्राप्त को उसके वैविध्यानुसार रसों में ले जाते हैं। इस प्रकार भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि आदि रस के अवयव हैं जो परस्पर संयोग द्वारा रस को निष्पन्न करते हैं। भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्नायक और अभिवनवगुप्त आदि आचार्यों ने भरतमुनि के रससूत्र में उपस्थित 'संयोगात' और 'निष्पत्तिः' शब्दों का अभिप्राय खोलने का प्रयत्न किया है। भट्टलोल्लट के लिए 'संयोग' का अर्थ उत्पाद्य—उत्पादक भाव संबंध है तथा 'निष्पत्ति मानते हैं उनकी इन अवधारणाओं का संबंध भी मीमांसा दर्शन की परिणतियों से है तथा उनकी रस निष्पत्ति संबंधी मान्यता को 'उत्पत्तिवादी' कहा गया है। श्रीशंकुक ने 'संयोग' को अनुमेय—अनुमापक संबंध कहा है और निष्पत्ति उनके लिए 'अुनमिति' है। श्रीशंकुक ने अपना मत भट्टलोल्लट के मत का खण्ड़न करते हुए प्रस्तुत किया है। इसी क्रम में भट्टनायक की रसनिष्पत्ति संबंधी अवधारणा इन दोनों आचार्यों की स्थापनाओं का खण्डन करती है।

भट्टनायक रस की 'उत्पत्ति' या 'प्रतीति' नहीं मानते। वे रस प्रक्रिया के अन्तर्गत अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व व्यापार की कल्पना करते हैं। 'अभिधा' उनके लिए शब्दार्थ का सीधा सरलीकृत रूप नहीं है अपितु इसमें काव्यात्मक अर्थ का प्रस्ताव करने की शक्ति निहित होती है। भट्टनायक से काव्य के अनुभावन में शब्दों की विशेष अर्थक्षमता को पहचाना और उन्हें काव्येत्तर विषयों की अनुरूपता से अलग तथा विलक्षण माना है – "भट्टनायक इस तथ्य से भी अच्छी तरह परिचित थे कि काव्य में शब्द और अर्थ गौण होते हैं और व्यापार (काव्य—व्यापार) की प्रधानता होती।"

इस प्रकार अभिधा उन्हें काव्यात्मक क्षमता के रूप में ग्राह्म है, भावकत्व और भोजकत्व से रस व्यापार पूर्ण होता है। भावकत्व का संबंध वे रस से तथा भोजकत्व का संबंध वे सामाजिक से मानते हैं। भट्टनायक ध्वनि विरोधी एवं

मीमांसावादी आचार्य थे। मीमांसादर्शन के अन्तर्गत 'वेद' ही प्रमाण है, अतः व्यंग्यार्थ के लिए वहां अवकाश नहीं है और अभिधा व्यापार उनके लिए महत्त्वपूर्ण है। 'अभिधा से अभिप्राय अवश्य सामान्य अर्थ का है, किन्तु भट्टनायक 'अभिधा' को काव्यात्मक अनुरूपता में निर्धारित करते हैं। इस अनुरूपता के साथ कलात्मक वैशिष्ट्य ग्रहण करता हुआ अभिधा व्यापार भावकत्व और भोजकत्व के संयोग से 'रसनिष्पत्ति' संभव करता है। अभिधा की विलक्षणता का उपकार भावकत्व व्यापार के द्वारा होता है, इसे ही वह भावना व्यापार कहते हैं, इसके द्वारा वाच्यार्थ विषयक अभिधा रस भावकत्व को प्राप्त होती है। इसकी काव्यात्मकता निर्मित करने के लिए यहां गुण, अलंकार, लय, नाद, सौंदर्य आदि सक्रिय होते है। इस प्रकार भट्टनायक यहां काव्यभाषा की सूक्ष्म कलात्मकता का भी निर्देश करते हैं। उनके अभिधा व्यापार में निश्चय ही लक्षणा अन्तर्निहित है। भट्टनायक ध्वनिमत के विरोधी आचार्य थे, अतः व्यंजना पर काव्य या रस की निर्भरता वे नहीं मानते। वे यह मानते हैं कि अभिधा के द्वारा उपस्थित काव्यार्थ को भाकत्व रसमय बनाकर सामाजिक के भोग अनुरूप बना देता है। 'भावकत्व व्यापार' को भट्टनायक 'रसादि' का उपकारक मानते है। भट्टनायक की साधारणीकरण विषयक् अवधारणा इस भावकत्व व्यापार की समानार्थी है। उनके 'भुक्तिवाद' के अन्तर्गत अभिधा से प्राप्त काव्यार्थ को कलात्मक विलक्षणताओं में निर्मित कर भावकत्व व्यापार उसे 'सामाजिक' के भोग के योग्य बना देता है। इसके अन्तर्गत अभिधा द्वारा उपस्थित रामादि के कार्य की व्यक्ति विशेष से उसकी संबंद्धता को हटाकर भावकत्व व्यापार उसका 'साधारणीकरण' करता है। इस 'साधारणीकरण' के द्वारा काव्यार्थ और सामाजिक में अभेद संबंध स्थापित हो जाता है। इसे इस प्रकार भी कहा गया है कि–'अपनी रूचि या संस्कार के अनुरूप सामाजिक उस कथा का एक पात्र स्वंय बन जाता है। इस प्रकार असली नायक–नायिका आदि की जो स्थिति उस कथा में थी साधारणीकरण व्यापार के द्वारा सामाजिक को लगभग वही स्थान मिल जाता है।'

इस साधारणीकरण के द्वारा रस व्यापार में प्रविष्ट सामाजिक रस का भोग करता है। इस रस व्यापार में स्थित सामाजिक अपने व्यक्तित्व की विशिष्ट मोहाच्छन्न व्यैक्तिक स्थिति से भी मुक्त होता है। इस प्रकार भट्टनायक के लिए काव्यार्थ की प्रतीति एक अलौकिक व्यापार है। भोजकत्व को उन्होंने सहृदय की प्रतीति से जुड़े व्यापार के रूप में निर्धारित किया हैं भावकत्व व्यापार के अन्तर्गत् निश्चय ही विभावादि के साथ–साथ सामाजिक के भी स्वभाव की बाधाएं तिरोहित होकर उसे काव्यास्वाद की विलक्षण भूमिका में ले आती है। इस प्रकार सामाजिक की रस प्रतीति की समस्या को भट्टनायक ने गम्भीरता से लिया है। सामाजिक को अनुकार्य के चरित की अनुकर्ता द्वारा प्रस्तुति से हर्षादि का बोध किस प्रकार संभव है, इसकी व्याख्या के लिए ही वे 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त देते हैं।

भट्टनायक के भुक्तिवाद के अनुसार "भोज्य–भोजक के परस्पर संबंध के आधार पर रस का आस्वादन विभावापेक्ष होता है।" भावकत्व की स्थिति में भाव विभाव अनुभाव और व्याभिचारि हेतु रूप में उपस्थित हैं तथा भावीकृत स्थायिभाव ही रसत्व को प्राप्त करता हुआ भोग्य बनता है। भोजकत्व के 'भोग' में साख्य की 'भोग' अवधारणा का आधार हो सकता है। सांख्य में ऐन्द्रिक (शब्द, स्पर्श, रूप, गंध आदि) बोध से परे की अनुभूति भोग कही जाती है। भट्टनायक की भोगपरक अवधारणा के अन्तर्गत सुख दुःखात्मक बोध तक पहुंचने की प्रक्रिया भावकत्व की भूमिका लेकर चलती है। इसलिए यह सुख–दुःख साधारणीकृत होकर सामाजिक द्वारा भोग्य हो उठता है। सुख दुःख का साधारणीकृत हो उठना विभाव अनुभाव आदि का निज के आग्रहों से मुक्त होना है अर्थात भाव्यमान स्थायिभाव विभावादि के (साधारणीकरण के) कारण लौकिक अनुभावों से भिन्न मानस दशा में रसत्व को प्राप्त करता हुआ सामाजिक द्वारा भुक्त होता है। इस प्रकार भट्टनायक 'रस' को एगेद्रिक बोध से परे की अनुभूति के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए 'रस' के रूप में परिभाषित करने वाले अभिनवगुप्त को एक प्रस्थान देते हैं।

इस प्रकार भट्टनायक के अनुसार रस निष्पत्ति न अनुकार्य (रामादि) में और न ही अनुकर्ता (नट) में हो रही है, अपितु 'रस' का अनुभव सामाजिक को होता है और सामाजिक द्वारा 'रस' की 'भुक्ति' होती है। अभिनव गुप्त ने भी

रस की स्थिति सामाजिक में मानी है किन्तु वहां वे 'रस' की 'उत्पत्ति', 'अनुमिति' या 'भुक्ति' न देखकर रस की 'अभिव्यक्ति' देखते हैं। भट्टनायक का भावकत्व व्यापार ही साधारणीकरण स्वरूप है। मम्मट ने भट्टनायक के इस पूरे 'व्यापार' को इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

"न ताटस्थेन नात्मगत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यजते अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादि साधारणकरणात्मना भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानः स्थायी, सत्वोद्रेक प्रकाशानन्दमय संविद्विश्रान्ति सतत्वेन भोगेन भुज्यते – इति भटट्नायकः।"

इस प्रकार 'रस निष्पत्ति' को सामाजिक का मनोमय व्यापार मानकर भट्टनायक रसोद्रेक में सामाजिक के ही स्थायीभाव को देखते हैं। यद्यपि उन्होंने इसका बहुत स्पष्ट संकेत नहीं किया है किन्तु यदि रस प्रक्रिया में वास्तविक कारक के रूप में मूल रामादि या नट शामिल नहीं है और उसकी अनुभूति सामाजिक को हो रही है, भावकत्व व्यापार के अन्तर्गत उसी के रत्यादि भाव रूप में परिणत होकर भुक्त हो रहे हैं तो स्थायी भाव भी निःसन्देह सामाजिक का ही होना चाहिए।

16.4 स्व मूल्यांकन :

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में आपने भट्टनायक के साधारणीकरण सम्बन्धी विवेचन का अध्ययन किया है। अब आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरकर एवं प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर इस अध्याय से प्राप्त ज्ञान का मूल्यांकन करें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा। यदि आप इस मूल्यांकन में असमर्थ हैं तो आपको निराश होने की आवश्यकता नहीं। आप इस अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

स्व मूल्यांकन : क – रिक्त स्थान भरो

1) ––––––––––––––के अनुसार भाव और रस परस्पर एक दूसरे को अभिव्यक्त करते हैं।
2) श्री शंकुक ने संयोग को ––––––––––––––––––संबंध कहा है।
3) श्री शंकुक के लिए निष्पत्ति –––––––––––है।
4) भट्टनायक का भावकत्व व्यापार ही –––––––––––––स्वरूप है।
5) साधारणीकरण के द्वारा काव्यार्थ और –––––––––––हो जाता है।

स्व–मूल्यांकनः ख – सही / गलत

1. भट्टनायक के 'भावकत्व' व्यापार के बीज मुनिभरत की भाव विषयक अवधारणा में देखें जा सकते हैं। (   )
2. सांख्यवादी रसचिंतक भट्टनायक का समय नौवीं दसवीं शती के आसपास अनुमानित नहीं है। (   )
3. भट्टनायक के अनुसार विभाव से तात्पर्य 'विशेष विज्ञातम्' में है। (   )
4. भट्टनायक की साधारणीकरण विषयक अवधारणा रस भावकत्व व्यापार की समानार्थी है। (   )
5. भट्टनायक रस की 'उत्पत्ति' या 'प्रतीति' नहीं मानते। (   )

16.5 सारांश

इस प्रकार भट्टनायक 'रस निष्पत्ति' का विश्लेषण करते हुए भट्टलोल्लट और शंकुक के उत्पत्तिवाद और अनुमितिवाद का खण्डन करते हुए अपने 'भुक्तिवाद' की स्थापना करते है जिसके अनुसार सामाजिक को रस की 'भुक्ति' होती है। इस क्रम में सहृदय के रसास्वाद की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए उनकी साधारणीकरण विषयक् स्थापना सामने आती है।

16.6 कठिन शब्द

1) उत्पत्ति– जन्म, उत्पन्न होने की अवस्था
2) विश्लेषण – छानबीन करना
3) रसास्वाद– सुख लेना
4) अनुमिति– अनुमान
5) अभिव्यक्ति– प्रकट करना

16.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. **साधारणीकरण सम्बन्धी भट्टनायक के मत का विवेचन कीजिए।**

____
____
____
____
____

16.8 उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन : क 1. भरतमुनि 2. अनुमेय–अनुमापक 3. अनुमिति 4. साधारणीकरण 5. सामाजिक

स्व–मूल्यांकन : ख 1. सही 2. गलत 3 . सही 4. सही 5. सही

16.9. पठनीय पुस्तकें

(1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा, हरियाणा ग्रंथ अकादमी पंचकूला, 2013
(2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकशन, वाराणसी, 2023
(3) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय, वाणी प्रकाशन, 2024
(4) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2019

साधारणीकरण – अभिनवगुप्त के विशेष संदर्भ में विवेचन

रूपरेखा

17.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
17.2 प्रस्तावना
17.3 साधारणीकरण – अभिनवगुप्त के विशेष संदर्भ में विवेचन
17.4 स्व–मूल्यांकन
17.5 सारांश
17.6 कठिन शब्द
17.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
17.8 उत्तर कुंजी
17.9 पठनीय पुस्तकें

17.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों ! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको साधारणीकरण संबंधी अभिनवगुप्त के विवेचन से परिचित करवाना है।

प्रस्तुत अध्याय के अध्ययनोपरान्त आप साधारणीकरण से संबंधित अभिनवगुप्त के मत से अवगत हो सकेंगे।

17.2 प्रस्तावना

'साधारणीकरण' प्रक्रिया की एक प्रत्यय के रूप में संकल्पना मूल रूप से भट्टनायक ने की है किन्तु 'अभिनवगुप्त' ने 'रस निष्पत्ति' के संबंध में अपना अभिव्यक्तिवादी मत स्थापित करते हुए भट्टनायक के साधारणीकरण सिद्धान्त को सहमति–असहमति के साथ विकसित किया है। अभिनवगुप्त मुनिभरत के बहुत महत्वपूर्ण व्याख्याकार हैं। इनकी व्याख्या में 'रस' अपनी आन्तरिक दार्शनिक गहराइयों को प्राप्त करता है।

17.3 साधारणीकरण – अभिनवगुप्त का मत

अभिनवगुप्त शैवाद्वैतवादी दार्शनिक थे। इनका समय दसवीं–ग्यारहवीं शताब्दी के आस–पास है। इनके दो ग्रंथ उपलब्ध हैं–'ध्वन्यालोक लोचन' एवं 'अभिनव भारती'। 'अभिनव भारती' की काव्यशास्त्रीय स्थापनाओं का आधार मुनिभरत का 'नाट्यशास्त्र' है। अभिनवगुप्त ने 'नाट्य' के साथ–साथ काव्य में 'रस' की स्थिति बताई और यह कहा कि काव्य में रस की अभिव्यक्ति के हेतु नाट्य से भिन्न प्रकार के होते हैं। अभिनवगुप्त भट्टनायक की सामाजिक विषयक अवधारणा से सहमत प्रतीत होते हैं। इन्होंने रस की अभिव्यक्ति ही मानी तथा माना कि "रस नायक अथवा अभिनेता पर आश्रित कोई वस्तुनिष्ठ पदार्थ नहीं है, अपितु एक स्वगत अवस्था है। उसका सौन्दर्यात्मक आस्वादन पाठक की अपनी क्षमता पर निर्भर है।" रसनिष्पति के लिए अभिनवगुप्त ने 'रसाभिव्यक्ति' निर्धारित किया है जिसके कारण इनका रसवाद अभिव्यक्तिवाद कहा जाता है। अभिनवगुप्त ने भट्टनायक आदि रसचिंतकों की स्थापनाओं को अपने पूर्व पक्ष के रूप में स्वीकार किया जिससे उनकी सहमति और असहमति दोनों थी।

भट्टनायक ने 'अभिव्यक्ति' का यह कह कर खण्डन किया था कि अभिव्यक्ति उस वस्तु की संभव है जो पहले से विद्यमान हो। रस इस प्रकार पूर्व विद्यमान नहीं है अपितु वह विभावादि के द्वारा जीवित है अतः जो विद्यमान नहीं उसकी अभिव्यक्ति कैसे संभव है।

अभिनवगुप्त 'रस' की पूर्व विद्यमानता के समर्थक है। यह विद्यमानता अभिव्यक्ति से पहले अव्यक्त स्थायी में है, विभावादि के द्वारा जिसका प्रकाश होता है। डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी के अनुसार – 'भट्टनायक की यह आपत्ति निराधार है कि सिद्ध का ही व्यंजन प्रकाशन होता है – अव्यक्त का भी व्यक्तिकरण होता है। जो रस पहले अव्यक्त भाव में विद्यमान है – काव्य व्यापार उसका व्यक्तिकरण करता है – इसलिए अभिव्यक्ति पक्ष का अनादर नहीं होता।

वस्तुतः अभिनवगुप्त की रस दृष्टि के निर्माण में ध्वनि तत्त्व की महत्वूपर्ण भूमिका है। अभिनवगुप्त मूलतः प्रत्याभिज्ञानवादी हैं, उसी दर्शन की सन्दर्भता में उन्होंने ध्वनि को स्वीकार किया और 'रसोत्पत्ति', 'रसानुभूति' और 'रसभुक्ति' की अपर्याप्तताओं को चिन्हित करते हुए अपना 'अभिव्यक्तिवाद' स्थिर किया। अभिनवगुप्त की रसाभिव्यक्ति में आनन्दवर्धन के 'ध्वनि' और भरतमुनि के 'रस' का आन्तरिक स्तर पर मेल हुआ है। इसके अन्तर्गत 'रस' व्यापक आनन्द रूप में प्रतिष्ठित होता है तथा प्रतीति से जुड़ी उत्पत्ति, आरोप, अनुमिति, भुक्ति आदि पूर्व विवेचित रस स्थितियां इसमें अन्तर्लीन हो जाती हैं। अभिनवगुप्त के रस चिंतन में सामाजिक को कुछ और विशिष्टता प्राप्त होती है तथा उसके भीतर रसास्वाद की अनुरूपता अनिवार्य मानी गयी है। यह सामाजिक कल्पनाशील, प्रवणशील, प्रबुद्ध और निरहंकारी होना चाहिए। इस विधि से उनके यहां रस सिद्धि भाव सापेक्ष है। अभिनवगुप्त की 'अभिव्यक्ति' चर्वणा का समानार्थ रखती है जो 'वीतिविघ्न प्रतीति' हे। शब्द एवं अर्थ के व्यंजना व्यापार से जुड़ कर सहृदय अभिधा के लौकिक भाव से मुक्त होकर सात्विक आत्मक के द्वारा ब्रह्मास्वाद के समान रसास्वाद को प्राप्त करता है। अभिनवगुप्त ने रस प्रतीति को ब्रह्मास्वाद के समान माना है जिसके द्वारा सहृदय अपने निजी लौकिक सुख–दुखात्मक भाव को तिरोहित कर विलक्षण प्रतीति को प्राप्त होता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के यहां 'रस' की प्रतीति चर्वणा के लोकोत्तर भाव में स्थित है। यहां वे भट्टनायक की भुक्ति और भावना के द्वैत को समेट लेते हैं। उनके लिए ये दो अलग तत्त्व नही।है और इन दोनों का समावेश 'व्यंजना' में हैं। 'ध्वनिमत' से अभिनवगुप्त की सहमति इस प्रकार रही है कि उन्हें ध्वनिवादी भी कह दिया जाता है। ध्वनि सिद्धान्त से वे 'व्यंजनता' की वह अवधारणा ग्रहण करते हैं जिसके अन्तर्गत काव्यास्वाद भावन ध्वनित है। 'व्यंजनता' के अन्तर्गत शब्द और अर्थ की योजना से निष्पन्न काव्यार्थ आता है। अभिनवगुप्त ने भावकत्व और भोजकत्व व्यापार को जिस ध्वनन व्यापार के अन्तर्गत लिया है इसके द्वारा भी सामाजिक अपने लौकिक आवरणों से मुक्त होकर रस के योग्य बनता है। रस की प्रतीति की लोकोत्तरता मानने वाले अभिनवगुप्त उसका उपाय करने वाले विभावादि को भी विलक्षण मानते हैं। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार इस रस और प्रतीति में भी एकात्म है, रस और प्रतीति को भिन्न स्वरूप में प्रस्तुत करने वाले पदों में भी इनके ऐक्य का पूर्व विश्वास उसी प्रकार रहता है जैसे 'ओदने पचति' जैसे प्रयोग में चावलों के पक जाने की स्थिति का उन पर आरोप कर दिया जाता है।

साधारणीकरण की स्थिति में अभिनवगुप्त ने सामाजिक के चित्त में स्थित स्थायीभाव का विभावादि के द्वारा उद्‌बुद्ध होना लक्षित किया है। इसके द्वारा सामाजिक को ब्रह्मानन्द सहोदर सदृश्य रस से एकान्त तन्मयता प्राप्त होती है। अभिनवगुप्त के 'साधारणीकरण' में भट्टनायक के भावकत्व व्यापार की गूंज लक्षित की जा सकती है। नाट्य या काव्य के अनुभव के लिए अभिनवगुप्त ने सामाजिक में 'एकतान मन की निश्चलता' जरूरी मानी है। सामाजिक के चित्त को निर्विघ्न रसास्वादन योग्य बनाने में विभावादि की भूमिका को अभिनवगुप्त महत्वपूर्ण मानते हैं। उन्होंने लिखा है ...... तत्र विघ्नपसारका विभावप्रभश्त्य। इस प्रकार 'साधारणकीरण' उनके लिए 'रसचर्वणा' के प्रति सहृदय में अनुकूलता निर्मित करने वाली वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा 'सामाजिक की चित्तवृत्ति का विभावादि के द्वारा व्यक्त भाव व्यापार से तादात्म्य होता है और वह 'रस चर्वण' को प्राप्त होता है। अभिनवगुप्त के शब्दों में यह साधारणीकरण इस प्रकार है–

''वह एक ही चित्तवृत्ति अपनी या पराई इस रूप में तथा दूसरी अनन्त चित्तवृत्तियों के कारण सैकड़ों विशेषताओं वाली होती है। जब उसका ऐसे काव्य के द्वारा प्रयोग (अभिनय या अभिख्यान) किया जाता है जो अलौकिक गीत, गेयपद, लास्य के दस अंगों का उपजीवन होता है और जो स्वीकृत लक्षण वाले गुण, अलंकार, गीत, वाद्य इत्यादि से भली–भांति सुन्दरता को प्राप्त हो जाता है, इस प्रकार के काव्य की महिमा से और प्रयोगमाला तथा अभ्यास विशेष का आश्रय ले लेने से (वह स्वकीय–पारकीय इत्यादि अनेक विशेषताओं वाले प्रधान नायक की चित्तवृत्ति) अपनी या पराई इस भावना से रहित हो जाती है। इस प्रकार उसका साधारणीकरण हो जाता है। इस साधारणीकरण के कारण अपनी सत्ता में सामाजिकों को भी समेट लेती है। क्योंकि सामाजिकों की चित्तवृत्ति का प्रधान नायक की चित्तवृत्ति से तादात्म्य हो जाता है इसलिए वह लौकिक चित्तवृत्तियों से विलक्षण रूप में अवगत होने लगती है।

अभिनवगुप्त ने ब्रह्मानन्द के समान रसचर्वण में सामाजिक को व्यक्ति और समाज सहित प्रवृत्त होते दिखाया है तथा सत्यापित किया है कि नृत्य–संगीत आदि की प्रस्तुति में वह समाज सहित अधिक आनन्द प्राप्त करता है। नृत्य–संगीत आदि के प्रभाव से वह देहभेद आदि की बाधा से मुक्त पूर्ण आनन्द को प्राप्त करता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के साधारणीकरण में प्रमाता के चित्त का उत्कर्ष और विस्तार होता दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त यह स्पष्ट करते हैं कि यह 'अभिव्यक्ति' सामाजिक के स्वयं के स्थायी भावों की है जो विभावादि के द्वारा प्रेरित होते हैं। काव्य या नाट्य के ग्रहण की सामाजिक की क्षमता को वे सामान्य क्षमता से अलग विशिष्ट रूप में देखते हैं, उनके द्वारा यह 'काव्यव्युत्पत्ति स्वभावजा' कही गयी है। इससे युक्त व्यक्ति ही काव्य को भावित करने में समर्थ सहृदय है। अभिनवगुप्त के अनुभव में जिस सहृदय सामाजिक का चित्त है उसके काव्य संस्कारों की निर्मिति में आत्म तत्त्व का विस्तार है। यह आत्म नित्य है, अद्वैत है और अनेक जन्मों के संस्कारों का संचय भी है। यही कारण है कि उसकी वासनाएँ उद्बोधन और विस्तार पाने में सक्षम हैं। इन भाव रूपों में वैविध्य और विलक्षणता सहज रूप से उपस्थित है। विभावादि द्वारा प्रेरित यह वासना अपने विस्तार में सहृदय के चित्त को पूरा समेट लेती है। उस चर्वणा क्षण में वह विशुद्ध आनन्द स्वरूप होता है।

इस प्रकार अभिनवगुप्त 'रस' की अभिव्यक्ति को आनन्द स्वरूप मानते हुए साधारणीकरण को इस आत्मपरामर्श की प्रक्रिया में देखते हैं। साधारणीकरण के अन्तर्गत 'विषय' या भावों की वह साधारणतः संपन्न होती है जिनके द्वारा भावक अपने निजी विघ्नों और संकोचों से मुक्त होता है और उसकी – "चिति का महाविस्फार हो जाता है।''

17.4. स्व मूल्यांकन :

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में आपने अभिनवगुप्त के साधारणीकरण सम्बन्धी विवेचन का अध्ययन किया है। अब आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरकर एवं प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर इस अध्याय से प्राप्त ज्ञान का मूल्यांकन करें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा। यदि आप इस मूल्यांकन में असमर्थ हैं तो आपको निराश होने की आवश्यकता नहीं। आप इस अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

स्व मूल्यांकन : क – रिक्त स्थान भरो

1) अभिनवगुप्त ने नाट्य के साथ–साथ ––––––––––––––में 'रस' की स्थिति बताई।
2) अभिनवगुप्त ने रस प्रतीति को –––––––––––––––––के समान माना है।
3) अभिनवगुप्त के ––––––––––––––––––––––में भट्टनायक के भावकत्व व्यापार की गूंज लक्षित की जा सकती है।

4) अभिनवगुप्त ——————————————————की सामाजिक विषयक अवधारणा से सहमत प्रतीत होते हैं।

5) अभिनवगुप्त ने सामाजिक के चित में स्थित ————————————————————का विभावादि के द्वारा उदबुद्ध होना लक्षित किया है।

स्व–मूल्यांकनः ख – सही / गलत

1) अभिनवगुप्त के यहां 'रस' की प्रतीति चर्वणा के लोकोत्तर के भाव में स्थित नहीं है। (   )

2) अभिनवगुप्त की रसाभिव्यक्ति में आनन्दवर्धन के ध्वनि और भरतमुनि के 'रस' का आन्तरिक स्तर पर मेल हुआ है। (   )

3) अभिनवगुप्त के साधारीकरण में प्रमाता के चित्त का उत्कर्ष और विस्तार होता दिखाई देता है। (   )

4) अभिनवगुप्त का साधारीकरण 'रस निष्पत्ति ' विषयक अनिवार्य प्रक्रिया नहीं है। (   )

5) व्यंजना के अन्तर्गत शब्द और अर्थ की योजना से निष्पन्न काव्यार्थ आता है। (   )

17.5 सारांश

स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त का साधारणीकरण 'रस निष्पत्ति' विषयक अनिवार्य प्रक्रिया है। यह साधारणीकरण विभावादि के द्वारा होता है और इस प्रक्रिया से सर्वप्रथम विभावादि ही साधारणीकृत होते हैं जिनकी परिणति में सामाजिक के रत्यादि भाव साधारणीकृत होकर रस प्रतीति की अपेक्षित भूमिका का निर्माण करते हैं।

17.6 कठिन शब्द

1) परिणति– झुकाव, नतीजा

2) अन्तर्गत– समाया हुआ, शामिल

3) क्षमता– शक्ति, सामर्थ्य

4) प्रवृत– तत्पर, उन्मुख

5) चित्तवृति– मन का भाव, चित्त की अवस्था

17.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. साधारणीकरण सम्बन्धी अभिनवगुप्त के मत की व्याख्या कीजिए।

2. आचार्य अभिनवगुप्त 'रस' की अभिव्यक्ति को आन्नद स्वरूप मानते हैं स्पष्ट कीजिए।

17.8. उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन : क 1. काव्य 2. ब्रह्मास्वाद 3. साधारणीकरण 4. भट्टनायक 5. स्थायीभाव

स्व–मूल्यांकन : ख 1. गलत 2. सही 3 . सही 4. गलत 5. सही

17.9. पठनीय पुस्तकें

(1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा, हरियाणा ग्रंथ अकादमी पंचकूला, 2013

(2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकशन, वाराणसी, 2023

(3) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय, वाणी प्रकाशन, 2024

(4) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2019

साधारणीकरण – जगन्नाथ के विशेष संदर्भ में विवेचन

रूपरेखा

18.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
18.2. प्रस्तावना
18.3. साधारणीकरणः अर्थ–स्वरूप एवं महत्व
18.4. संस्कृत आचार्यों के मत (साधारणीकरण के संदर्भ में)
18.4.1 भट्टलोल्लट
18.4.2 भट्ट शंकुक
18.4.3 भट्टनायक
18.4.4 अभिनवगुप्त
18.4.5 आचार्य धनंजय
18.4.6 आचार्य विश्वनाथ
18.5. आचार्य जगन्नाथ और साधारणीकरण
18.5.1 परिचय
18.5.2 पंडितराज जगन्नाथ के साधारणीकरण की अवधारणा
18.5.3. काव्य के तीन व्यापार
18.5.4 रसनिष्पत्ति
18.5.5. आचार्य जगन्नाथ व सहृदय की अवधारणा
18.5.6. साधारणीकरण के अन्य आचार्यों की आलोचना
18.5.7. पंडितराज जगन्नाथ और उनके साधारणीकरण का वैशिष्ट्य
18.6 स्व–मूल्यंकन
18.7 सारांश
18.8 कठिन शब्द
18.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
18.10 उत्तर कुंजी
18.11 पठनीय पुस्तकें

18.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों ! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको साधारणीकरण संबंधी जगन्नाथ के विवेचन से परिचित करवाना है।

प्रस्तुत अध्याय के अध्ययनोपरान्त आप साधारणीकरण के अर्थ, स्वरूप, महत्त्व व संस्कृत आचार्यों के मतों ज्ञान प्राप्त करने के साथ–साथ साधारणीकरण से संबंधित जगन्नाथ के मत से अवगत हो सकेंगे।

18.2 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थी! रस परिकल्पना के संदर्भ में साधारणीकरण एवं सहृदय की अवधारणा का भारतीय काव्यशास्त्र में विशेष महत्व है। इन दोनों तत्त्वों पर भारतीय आचार्यों ने जमकर विश्लेषण किया है। इस संदर्भ में आचार्य जगन्नाथ की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता।

18.3. साधारणीकरण– अर्थ एवं स्वरूप

'साधारणीकरण' का शाब्दिक अर्थ है–व्यक्ति का विलयन, निर्वैयक्तिकरण, सम्बन्ध विशेष का त्याग या असाधारण का साधारणीकण/साधारणीकरण वह सामान्यीकृत अनुभव है जिसमें वस्तुएँ स्थान तथा काल की उपाधि से मुक्त हो कर निर्वैयक्तिक दिखाई देती है। वस्तुतः साधारणीकरण वह सामान्यीकृत अनुभव है जिसमें वस्तुएँ स्थान तथा काल की उपाधि से मुक्त हो कर निर्वैयित्तक रूप में दिखाई देती हैं और अनुमूत हो ने लगती है। साधारणीकरण का सम्बन्ध रसनिष्पति की वैज्ञानिक प्रक्रिया से है। साधारणीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें सहृदय अपने सामान्य मानवीय हृदय द्वारा काव्य में वर्णित विभाव आदि को सामान्य कृत अथवा मानवीय रूप में ग्रहण करता है। इस प्रक्रिया द्वारा काव्य या नाटक का मूल पात्र कालगत और स्थानगत दोनों प्रकार की विशेष उपाधियों को छोड़कर सामान्य रूप धारण कर लेते हैं। यह प्रक्रिया विशेष भावों की वैयक्तिक अनुभूति को रस रूप में परिणत कर देती है। यह पाठक, श्रोता, दर्शक तथा कवि सबके हृदय में घटित होती है। इस संदर्भ में डॉ. नगेन्द्र का मत है–"साधारणीकरण का अर्थ है–काव्य के पठन द्वारा पाठक या श्रोता का भाव सामान्य भूमि पर पहुँच जाना।"

साधारणीकरण का महत्त्व

रसवत्ता ही काव्य की जननी है और यह साधारणीकरण से ही आ सकती है। साधारणीकरण द्वारा कवि दूसरे के भावों को उद्‌बुद्ध करके उन्हें आनंदानुभूति प्रदान कर सकता है। इस प्रक्रिया द्वारा कवि की अनुभूति विश्वानुभूति बन सकती है। इसी से रस चिन्मय और लोकोत्तर बन सकता है। इस प्रक्रिया द्वारा सहृदय अपनी पृथक सत्ता तथा वैयक्तिक स्वार्थों की संकोच भूमि से उठकर लोक सामान्य भूमि तक पहुँच जाता है। जब सहृदय अपनी पृथक् सत्ता को भूलकर, हानि–लाभ की भावना का परित्याग करके समूची मानव जाति की सुख–दुख की अनुभूति में लीन हो जाता है, तभी साधारणीकरण की स्थिति उत्पन्न होती है। ऐसी अवस्था में सहृदय के व्यक्तित्व का विलयन हो जाता है और असाधारण का साधारणीकरण हो जाता है। वस्तुतः लोक हृदय में लीन होना ही साधारणीकरण कहा जा सकता है।

18.4. संस्कृत आचार्यों के मत (साधारणीकरण के संदर्भ में)

आचार्य भारत के रस सूत्र 'विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगात् रस निष्पत्ति' के बारे में चार विद्वानों ने विचार किया है–भट्ट लोल्लट, भट्ट शँकुक, भट्ट नायक तथा अभिनवगुप्त। रसानुभूति के संदर्भ में भट्टलोल्लट और शंकुक ने यह प्रश्न उठाया कि सहृदय (पाठक या श्रोता) नायक–नायिका आदि कल्पित पात्रों के भावों से रस स्वाद (रसनुभूति) कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? भट्टनायक ने इसका समाधान करते हुए साधारणीकरण सिद्धांत की व्याख्या की। उनका कथन है कि सहृदय सर्वप्रथम अभिधा शक्ति द्वारा पात्रों के संवादों को अर्थ ग्रहण करता है। पुनः भावकत्व व्यापार द्वारा उस अर्थ का भावन करता है। भावकत्व द्वारा ही विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का साधारणीकरण हो जाता

है। परिणामस्वरूप सामाजिक (पाठक व श्रोता) अपने सुख–दुख, हर्ष विषाद, मोह आदि भावों को त्याग कर सामान्य रूप धारण कर लेता है और तत्पश्चात वह भोजकत्व द्वारा रस का भोग करता है। उनका मूल कथन इस प्रकार है–"विभावादि साधारणीकरणात्मा अमिछातों द्वितीयेनांशेन भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानो रस...........योगेन परम पूज्यत इति।"

अर्थात् रस भोग्य रूप या आस्वादनीय है। अभिधा शक्ति से विलक्षण भावकत्व व्यापार द्वारा विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है।

18.4.1. भट्ट लोल्लट

भरत सूत्र की व्याख्या करने वालों में भट्ट लोल्लट प्रथम आचार्य हैं। उनको मत को उत्पत्तिवाद् या आरोपवाद की संज्ञा दी जाती है। उनके अनुसार विभावादि के साथ स्थायी भाव का संयोग होने से रस की उत्पत्ति होती है। विभावादि स्थायी भाव की उत्पत्ति के कारण हैं। भट्ट लोल्लट के इस सिद्धांत की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उन्होंने रस की स्थिति सामाजिक (पाठक व श्रोता) में न मानकर अनुकार्य में मानी है, जबकि काव्य या नाटक की सफलता दर्शक के रसमग्न होने में है। यही साधारणीकरण की अवधारणा है।

18.4.2. भट्ट शंकुक

रसनिष्पत्ति बनाम साधारणीकरण के दूसरे व्याख्याकार भट्ट शंकुक हैं। इन्होंने 'संयोग' शब्द को अनुमान तथा निष्पत्ति शब्द को अनुमिति के अर्थ में ग्रहण किया है। उनका यह सिद्धांत 'अनुमित्तिवाद' कहलाता है। उनके कथानुसार रस की उत्पत्ति नहीं होती, केवल अनुमान किया जा सकता है। सामाजिक रस का अनुमान नाटकीय पात्रों में कर लेता है। यही साधारणीकरण की भूमिका है।

18.4.3 भट्टनायक

रसानुभूति (साधारणीकरण) के सम्बन्ध में भट्टनायक का सिद्धांत भुक्तिवाद (योगवाद) कहलाता है। नाटक में रसानुभूति पाने वाले तीन व्यक्ति हैं–राम, नट और सामाजिक। उन्होंने शब्द के तीन व्यापारों अभिधा, भावकत्व, भोजकत्व की कल्पना की है। अभिधा नायक शब्द शक्ति से शब्दार्थ की प्रतीत होती है। भावकत्व व्यापार से चमत्कार का बोध होता है और पात्रादि की विशिष्टता समाप्त होकर उनका साधारणीकरण होता है। भोजकत्व व्यापार द्वारा सामाजिक रस की अनुभूति करता है।

18.4.4. अभिनव गुप्त

अभिनव गुप्त का रसानुभूति (साधारणीकरण) का सिद्धांत अभिव्यक्तिवाद कहलाता है। उनके अनुसार व्यंजक–व्यंग्य रूप संयोग द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् विभावादि व्यंजकों के द्वारा रति आदि स्थायी भाव ही साधारणीकरण रूप में व्यंग्य होकर श्रृंगार आदि रसों में अभिव्यक्त होते हैं। सहृदय के हृदय में वासना रूप में स्थित स्थायी भाव का जब विभवादि से संयोग होता है तो वह स्थायी भाव ही रस का रूप धारण कर लेता है। गुप्त के अनुसार रस की स्थिति सामाजिक (सहृदय) के चित्र में होती है। गुप्त ने स्पष्ट किया है कि साधारणीकरण द्वारा कवि निर्मित पात्र व्यक्ति विशेष न रहकर सार्वदेशिक पात्र बन जाते हैं। नायक–नायिका के अंदर जो भाव व्यक्तिगत सम्बन्ध के कारण होते हैं, काव्य–नाटक देखने–पढ़ने से सहृदय में साधारणीकृत हो जाते हैं।

18.4.5. आचार्य धनंजय

आचार्य धनंजय ने भट्ट नायक व अभिनवगुप्त को आधार मानकर 'कवि तत्व' का उल्लेख किया है। धनंजय का मत है कि नाटक देखने या पढ़ने से सहृदय के समक्ष ऐतिहासिक रामादि पात्र न रहकर कविनिर्मित पात्र रह जाते हैं। दर्शक (सामाजिक) का रामादि के प्रति पूज्य भाव समाप्त हो जाता है और कवि निर्मित पात्रों के माध्यम से रसानुभूति प्राप्त करता है। यही साधारणीकरण की भूमिका है।

18.4.6. आचार्य विश्वनाथ

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार विभाव अनुभाव, संचारी भाव–तीनों का साधारणीकरण होता है। समस्त घटना चक्र अपने विशिष्ट व्यक्तित्व से रहित हो जाता है। राम आदि पात्र और सहृदय में अभेद स्थापित हो जाता है, दोनों के रतिभाव एक समान हो जाते हैं और सहृदय पात्रों के अनुरूप मानसिक रूप से आचरण करने लगता है। इस प्रकार उन्होंने विभाव आदि, स्थायी भाव तथा सामाजिक का साधारणीकरण बताते हुए सहृदय के आश्रय के साथ तादात्म्य की भी चर्चा की है।

आचार्य विश्वनाथ की प्रमुख देन यही है कि उन्होंने अभिनव गुप्त के 'सर्व सामाजिकों को समान रूप से रसास्वाद' के सिद्धांत का खंडन किया है। रसास्वाद रति आदिक वासना के बिना नहीं हो सकता। उन्होंने विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी तथा स्थायी भाव सभी के साधारणीकरण का सिद्धांत प्रस्तुत किया। विभाव आदि के लोक सामान्य (साधारण) बन जाने पर को ई बाधा रह नहीं जाती। उन्होंने स्पष्ट किया है कि प्रमाता रामादि आश्रय के अभेद हो जाने के कारण रसास्वादन करता है। विभावादिकों का जो साधारणीकरण नामक व्यापार है, उसके प्रभाव से हनुमानादि के समुद्र लंघन आदि कार्य के प्रमाता उसके साथ अभेद के कारण आत्मगत रूप से अनुभव करता है। इस प्रकार विश्वनाथ ने प्रमाता और आश्रय के अभेद सिद्धांत को अधिक दृढ़ता और स्पष्टता के साथ प्रतिपादिक किया। इस अभेद के कारण ही सामाजिक की रति का उद्बोधन संभव है।

18.5. आचार्य जगन्नाथ और साधारणीकरण

18.5.1 परिचय

पण्डितराज जगन्नाथ तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पेरूभट्ट था। इनकी जननी लक्ष्मी नाम से प्रसिद्ध थी। इनके पिता पेरूभट्ट अद्वितीय विद्वान थे। वे वेदांतशास्त्र के ज्ञाता थे। न्याय व वैशेषिक दर्शन के भी ज्ञाता था। पंडितराज से सर्वविद्याविशारद पिता से ही सब विषयों का अध्ययन किया। पंडितराज अपने युग के विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ थे। वे सभी शास्त्रों के प्रगाढ़ पण्डित थे, विशेषकर दर्शन और साहित्यशास्त्र पर इनका अद्भुत अधिकार था। पंडितराज का स्वभाव अत्यंत उग्र था। वे कटु सत्य को व्यक्त करने में तनिक भी सकुंचित नहीं हो ते थे। वे स्वाभिमानी थे। 'रसगंगाधर उनका प्रसिद्ध ग्रंथ है। यह अलंकार शास्त्र का प्राणपूत है। साधारणीकरण की चर्चा भी इसी ग्रंथ में हुई है।

18.5.2 पंडितराज जगन्नाथ के साधारणीकरण की अवधारणा

पंडितराज जगन्नाथ ने साधारणीकरण शब्द का प्रयोग नहीं किया है लेकिन 'दोष दर्शन' के आधार पर साधारणीकरण की व्याख्या करने की कोशिश की है। उनका मत है कि भावना के दोष के कारण ही रामादि असाधारण पात्र सहृदय को सामान्य प्रतीत हो ने लगते हैं। ऐसी अवस्था में आश्रय रामादि के साथ तादात्म्य हो ने से साधारणीकरण होता

है। जैसे ही यह भावना दोष नष्ट होता है वैसे ही रसानुभूति भी लुप्त हो जाती है। पंडितराज जगन्नाथ ने रस त्रस्तोता भट्टनायक से दो बातों में मतभेद है। (1) पंडितराज जगन्नाथ व्यंजना को स्वीकार करते हैं किन्तु भट्टनायक नहीं। (2) आचार्य जगन्नाथ 'दोष' अर्थात् आत्मा की अज्ञानवछिन्नता को मानते हैं जबकि भट्टनायक उसे नहीं मानते। पंडितराज जगन्नाथ की मान्यता है कि इस 'दोष' के द्वारा सहृदय का आलम्बन (शकुन्तला) के प्रति वैसा ही भाव उत्पन्न हो जाता है जैसा आश्रय (दुष्यंत) का, प्रकारान्तर से वह साधारणीकरण की बात मान लेते हैं। आचार्य जगन्नाथ ने साधारणीकरण (रसानुभूति) के सम्बन्ध में स्थायी भावों के महत्त्व को महत्ता दी है। उनका मत है कि इस सामाजिकों (नाटक के दर्शक तथा काव्य के श्रावक) में रहता है– नायक आदि में नहीं। दूसरा मत यह है कि रस अद्वितीय आनंदमय है अर्थात् ब्रह्म रूप है–उसका ज्ञान हो ते समय अन्य किसी का ज्ञान नहीं होता। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि व्यभिचारी भाव (हर्षादिक चित्तवृतियाँ) ही रस रूप में परिणत हो ते हैं। पंडितराज ने यह स्वीकार किया है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव इन तीनों का समूह रस है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग (मिश्रण) से स्थायी भाव रस रूप में परिणत हो ते हैं। यही साधारणीकरण की मूल चेतना है।

18.5.3 काव्य के तीन व्यापार

आचार्य जगन्नाथ के अनुसार काव्य के तीन व्यापार हैं–एक अभिधा, जिससे सर्वप्रथम कव्यार्थों को समझा जाता है, दूसरा अंश काव्य का है भावना या भावकत्व, जिससे शकुन्तला आदि का साधारणीकरण होता है। तीसरा अंश है भोजकत्व जिससे रति आदि का रस रूप में आस्वादन होता है।

18.5.4 रस निष्पत्ति

पं. जगन्नाथ के अनुसार स्थायी भावों का विशेष महत्त्व है। रस सामाजिकों (नाटक के दर्शक) में रहता है–नायक आदि में नहीं। दूसरी बात यह है कि यह अद्वितीय आनंदमय है अर्थात् ब्रह्म रूप है–उसके ज्ञान होते समय अन्य किसी का ज्ञान होता ही नहीं, फिर रसों में परस्पर विरोध का होना असंभव है।

18.5.5 आचार्य जगन्नाथ व सहृदय की अवधारणा

रस के संदर्भ में सहृदय को अपनी सहृदयता से भावना विशेष का उल्लास होता है। सहृदय को अपनी सहृदयता से विभाव आदि की चर्वणा होती है। बिना भावना विशेष के रस निष्पत्ति नहीं हो सकती। भावना विशेष की महिमा से दुष्यंतव्य आदि विशेषताओं का विगलन हो कर सामान्य नायक–नायिका पदार्थ उपस्थित हो ते हैं। पंडितराज ने विभावन, अनुभावन एवं व्यभिचरण नाम से इस व्यापार का उल्लेख किया है।

18.5.6 साधारणीकरण के अन्य आचार्यों की आलोचना

पंडितराज जगन्नाथ भट्टनायक आदि विद्वानों के साधारणीकरण सिद्धांत को नहीं मानते। भरत अभिनवादि आचार्यों द्वारा संकेतित तथा विश्वनाथ द्वारा विवेचित 'आश्रय के साथ प्रमाता के अभेद' के सिद्धांत को पूर्णतया मान्यता प्रदान करते हैं। प्राचीन आचार्यों ने जो विभावादि के साधारणीकरण की बात की है वह दोष विशेष की कल्पना किये बिना नहीं बन सकती। काव्य में शकुन्तला आदि के शब्दों से शकुन्तला आदि का ही बोध होता है, साधारण कांता के रूप में नहीं। साधारणीकरण के लिए 'दोष ' की कल्पना अनिवार्य रूपेण करनी ही पड़ती है।

पंडितराज जगन्नाथ ने साधारणीकरण का खंडन किया, किन्तु अभेद के सिद्धांत को यथा रूप में स्वीकार कर लिया। उनके अनुसार जब दोष की कल्पना से ही अभेद की सिद्धि हो ती है तो अभेद के लिए दीप और साधारणीकरण

दो हेतुओं की कल्पना निरर्थक है। अतएव के वल 'दोष विशेष' की कल्पना ही करनी चाहिए। इस प्रकार पंडितराज ने प्रमाता का आश्रय के साथ अभेद की स्थिति को ही प्रमुख माना है।

18.5.7 पण्डितराज जगन्नाथ और उनके साधारणीकरण सिद्धांत का वैशिष्ट्य

आचार्य जगन्नाथ ने प्रमाता का सहृदय हो ना आवश्यक माना है। ऐसा सहृदय प्रमाता जब औचित्य और लालित्य से सन्निवेश काव्य पढ़ता है तो उसमें एक प्रकार की भावना उद्‌बुद्ध हो उठती है, जिससे दुष्यंत, शकुंतला आदि साधारणीकरण रूप में प्रतीत होने लगते हैं। उस समय वे साधारणीभूत पुरुष तथा कामिनी के रूप में प्रतीत होने लगते हैं। उस समय साधारणीभूत विभाव आदि के अलौकिक व्यापार के कारण आनंद स्वरूप आत्मा के अज्ञान के आवरण भंग हो जाने से प्रमाता का परिमित प्रमातृधर्म समाप्त हो जाता है और वह भी साधारणीभूत हो इत्यादि स्थाई भावों की रस रूप में चर्वणा करता है।

उक्त सिद्धांत की विशेषताएँ

(1) भावना विशेष के कारण विभावादि का साधारणीकरण सम्पन्न होता है। यह भावना भट्ट नायक की भावना न होकर अभिनवगुप्त की व्यंजना–शक्ति है, जिससे शब्द और अर्थ दोनों को व्यंजित करते हैं। विभाव आदि के साधारणीकरण से उनका अभिप्राय है कि दुष्यंत शकुन्तला आदि अपने विशेष रूप में प्रतिभासित न होकर साधारण पुरुष और कामिनी के रूप में प्रतिभासमान होते हैं।

(2) भावना के उदय के मूल में वे औचित्य और लालित्य से सन्निवेशित काव्य को स्वीकार करते हैं।

(3) विभावादि का साधारणीकरण हो जाने पर प्रमाता का भी परिमित प्रामृत्य–धर्म समाप्त हो जाता है। वह भी साधारणीभूत हो जाता है तथा अपने निजी व्यवितत्व के ऊपर उठ जाता है।

(4) स्थायी भाव का साधारणीकरण हो जाता है।

(5) दुष्यंत आदि के साथ तादात्म्य स्थापित करने में मूलतः कवि के साथ ही तादात्म्य स्थापित करने की भावना रहती है क्योंकि काव्य का नायक कवि के भाव की मूल चेतना का प्रतिनिधित्व करता है।

(6) दोषात्मक भावना की कल्पना करके पंडितराज ने साधारणीकरण सिद्धांत को शुद्ध वैदान्तिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है।

(7) साधारणीकरण में दुष्यंत और शकुन्तला के दुष्यन्तत्व और शकुन्तलत्व विगलित हो जाते हैं। वे साधारण पुरुष और साधारण कामिनी के रूप में प्रतीत होते हैं। उनके अनुभाव, व्यभिचारी भाव भी साधारणीभूत हो जाते हैं। इस प्रकार सम्बन्धों का परिहार हो जाता है।

(8) विभाव आदि से सामाजिक वासना रूप उद्‌बुद्ध हो उठते हैं और वह विभावादि के माध्यम से अपने ही साधारणीभूत भाव की चर्वणा करता है।

(9) सामाजिक भी साधारणीभूत हो जाता है। वह अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठ जाता है। फलस्वरूप उसका प्रमातृ–धर्म समाप्त हो जाता है।

(10) पंडितराज जगन्नाथ ने प्रमाता का सहृदय होना आवश्यक माना है। ऐसा सहृदय प्रमाता जब औचित्य और लालित्य से सन्निवेशित काव्य पढ़ता है तो उसमें एक प्रकार की भावना उद्‌बुद्ध हो उठती है, जिसे दुष्यंत, शकुन्तला आदि साधारणीभूत रूप में प्रतीत हो ने लगते हैं। उनके दुष्यन्तत्व, शंकुन्तलत्व आदि विगलित हो

उठते हैं। उस समय वे साधारणीभूत पुरुष तथा कामिनी के रूप में प्रतीत हो ने लगते हैं। यही विभावादि का साधारणीकरण है। विभावादि का साधारणीकरण हो जाने पर प्रमाता का भी परिमित प्रमातृ धर्म समाप्त हो जाता है। वह भी साधारणीभूत हो जाता है और अपने निजी व्यक्तित्व से ऊपर उठ जाता है।

(11) विभाव आदि से सामाजिक के वासना रूप स्थायी भाव उद्‌बुद्ध हो उठते हैं और वह विभावादि के माध्यम से अपने ही साधारणीभूत भाव की चर्वणा करता है।

(12) सामाजिक भी साधारणीभूत हो जाता है। वह अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठ जाता है। फलस्वरूप उसका प्रमातृ–धर्म समाप्त हो जाता है।

18.6. स्व मूल्यांकन :

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में आपने साधारणीकरण के अर्थ, स्वरूप, महत्त्व व संस्कृत आचार्यों के मतों का ज्ञान प्राप्त करने के साथ–साथ साधारणीकरण से संबंधित जगन्नाथ के मत का अध्ययन किया है। अब आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरकर एवं प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर इस अध्याय से प्राप्त ज्ञान का मूल्यांकन करें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा। यदि आप इस मूल्यांकन में असमर्थ हैं तो आपको निराश होने की आवश्यकता नहीं। आप इस अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

स्व मूल्यांकन : क – रिक्त स्थान भरो

1) आचार्य विश्वनाथ के अनुसार विभाव, अनुभाव, ––––––––––––––तीनों का साधारीकरण होता है।
2) पण्डितराज जगन्नाथ ––––––––––––––ब्राह्मण थे।
3) रस के संदर्भ में सहृदय को अपनी ––––––––––––––––से भावना विशेष का उल्लास होता है।
4) पण्डितराज जगन्नाथ के पिता का नाम ––––––––––––था।
5) पण्डितराज –––––––––––––––––––का रसगंगाधर प्रसिद्ध ग्रंथ है।

स्व–मूल्यांकनः ख – सही / गलत

1) रस के संदर्भ में सहृदय को अपनी सहृदयता से भावना विशेष का उल्लास होता है। ( )
2) बिना भावना विशेष के रस निष्पति हो सकती है। ( )
3) स्थायी भाव का साधारणीकरण हो जाता है। ( )
4) पंडितराज जगन्नाथ ने प्रमाता का आश्रय के साथ अभेद की स्थिति को प्रमुख नहीं माना है। ( )
5) विश्वनाथ ने प्रमाता और आश्रय के अभेद सिद्धांत को अधिक दृढ़ता और स्पष्टता के साथ प्रतिपादित किया। ( )

18.7. सारांश

वस्तुतः साधारणीकरण का सिद्धांत काव्य के आस्वादन का सार्वभोम सिद्धांत है। दिनकर जी का मत है–"जिस साहित्य का साधारणीकरण का आधार टूटा हुआ अथवा लुप्त है, वह कभी भी जनता के बीच प्रचार नहीं पायेगा।" अनुभूतियाँ वैज्ञानिकता, दार्शनिकता, यथार्थता से आक्रांत हो कर लोक सामान्य भाव–भूमि से कट जाने के कारण

साधारणीकरण के वृत्त से बाहर पड़ती हैं, वे स्थायी कविता का रूप कभी ग्रहण नहीं कर सकती। भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक के साधारणीकरण के सिद्धांतों में है। सभी आचार्यों ने विभाव, अनुभाव, संचारी भावों का विश्लेषण अपने अपने ढंग से किया है। आचार्य जगन्नाथ का साधारणीकरण का विश्लेषण उक्त सभी विद्वानों से भिन्न जान पड़ता है। फिर भी उनका विश्लेषण ठोस व तर्कसंगत है।

18.8. कठिन शब्द

प्रिय विद्यार्थियो! अभ्यासार्थ प्रश्नों के उत्तर देने से पहले निम्नलिखित कठिन शब्दों के अर्थ शब्दकोश से खोजकर जहाँ लिखें और अपने शब्द भंडार को विकसित करें।

1. परिकल्पना ....
2. अज्ञानवछिन्नता ....
3. विगलन ....
4. प्रमाता ....
5. सन्निवेशित ....

18.8. अभ्यासार्थ प्रश्नः–

1. **साधारणीकरण का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसकी प्रक्रिया पर विस्तार प्रकाश प्रक्षेपण कीजिए।**

2. **साधारणीकरण सिद्धांत के सदंर्भ में संस्कृत–हिन्दी विद्वानों के मत दीजिए।**

3. **'कवि की अनुभूति का साधारणीकरण होता है'– इस कथन की पुष्टि कीजिए।**

4. 'सहृदय' की अवधारणा पर प्रकाश डालिए।

5. रस सिद्धांत के सर्वप्रथम व्याख्याकार के रूप में भट्टनायक देन पर सविस्तार विवेचन कीजिए।

6. साधारणीकरण के संदर्भ में भारतीय आचार्यों की भूमिका पर प्रकाश डालिए।

7. साधारणीकरण के संदर्भ में हिन्दी विद्वानों की देन को रेखांकित कीजिए।

8. आचार्य जगन्नाथ का परिचय देते हुए उनकी साधारणीकरण सम्बन्धी अवधारणा पर प्रकाश डालिए।

18.9. उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन : क

1. संचारी भाव 2. तैलंग 3. सहृदयता 4. पेरुभट्ट 5. जगन्नाथ

स्व–मूल्यांकन : ख

1. सही 2. गलत 3. सही 4. गलत 5. सही

18.10. पठनीय पुस्तकें

(1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा, हरियाणा ग्रंथ अकादमी पंचकूला, 2013

(2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकशन, वाराणसी, 2023

(3) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय, वाणी प्रकाशन, 2024

(4) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2019

आचार्य विश्वनाथ और रामचन्द्र शुक्ल के साधारणीकरण से संबंधित मत

रूपरेखा

19.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
19.2 प्रस्तावना
19.3 आचार्य विश्वनाथ का साधारणीकरण से संबंधित मत
19.4 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साधारणीकरण से संबंधित मत
19.5 स्व–मूल्यांकन
19.6 कठिन शब्द
19.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
19.8 उत्तर कुंजी
19.9 पठनीय पुस्तकें

19.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों ! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको आचार्य विश्वनाथ और रामचन्द्र शुक्ल के साधारणीकरण से संबंधित मत से परिचित करवाना है।

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

– साधारणीकरण को समझ सकेंगे।

– साधारणीकरण से संबंधित आचार्य विश्वनाथ के मत से अवगत हो सकेंगे।

– साधारणीकरण को लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत से अवगत हो सकेंगे।

19.2 प्रस्तावना

काव्य में वर्णित रामादि पात्रों के भाव सामाजिक (दर्शक, पाठक, श्रोता) के आस्वादन का विषय कैसे बनते हैं? इस प्रश्न के समाधान के लिए भट्टनायक ने सबसे पहले साधारणीकरण के सिद्धान्त की स्थापना की। भट्टनायक ने साधारणीकरण होने तक की प्रक्रिया में तीन शक्तियों की कल्पना की। वे शक्तियां हैं – 1. अभिधा 2. भावकत्व 3. भोजकत्व। इनमे से पहली अभिधा शक्ति द्वारा काव्य के सामान्य और अलंकारिक अर्थ का ज्ञान होताहै। दूसरी शक्ति भावकत्व की प्रक्रिया में विभाव, अनुभाव आदि किसी व्यक्ति विशेष से सम्बद्ध न रह कर मनुष्य मात्र के हो जाया करते हैं और भोजकत्व शक्ति द्वारा साधारणीकृत भाव का उपयोग सामान्य रूप में सभी करते हैं। उपभोग की स्थिति ही रस–दशा या आनन्द दशा होती है। साधारणीकरण की स्थिति में सामाजिक के मोह आदि अज्ञान का निवारण हो जाता है।

भट्टनायक के साधारणीकरण के सिद्धांत को अभिनव गुप्त ने संशोधित रूप से प्रस्तुत किया। उन्होंने भावकत्व और भोजकत्व व्यापार को नहीं माना। अभिनवगुप्त के अनुसार वाक्यार्थ के बोध के पश्चात् साक्षात्कारात्मिका प्रतीति

उत्पन्न होती है और विभावादि को साधारणीकरण होने लगता है। साथ ही स्थायी भाव का भी साधारणीकरण हो जाता है। विभाव का साधारणीकरण होने के कारण रामादि ऐतिहासिक पात्र विशेष पात्र न रहकर साधारण युवक और स्त्री मात्र रह जाते हैं। उसी प्रकार स्थायी भाव भी देशकाल के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। स्थायी भाव सामाजिक के भी नहीं रहते। सामाजिक 'स्व' और 'पर' के बोध से मुक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में सामाजिक को रस की प्रतीति होती है।

19.3 आचार्य विश्वनाथ का साधारणीकरण से संबंधित मत

आचार्य विश्वनाथ ने अभिनव के समान ही रति आदि स्थायी भावों और विभावादि सभी का साधारणीकरण माना। ऐसा मानते हुए इन्होंने 'अनुभावना' और 'संचरण' नामक दो नई प्रक्रियाएं भी स्वीकार की। इन्होंने रसादि को आस्वाद योग्य बनाने की प्रक्रिया को अनुभावना कहा है। इसी को भट्टनायक भावकत्व व्यापार कहते हैं। रति आदि स्थायीभाव को रस–रूप में लाने के लिए सम्यक् रूप में चारण किए जाने को इन्होंने संचारण कहा है।

विश्वनाथ ने साधारणीकरण के व्यापार को दो भागों में विभक्त किया है – प्रथम, समग्र विभावादि का साधारणीकरण, द्वितीय साधारणीकरण के प्रभाव से सामाजिक का आश्रय के साथ अभेद या तादात्म्य। सामाजिक के साथ आश्रय के तादात्म्य का नया सिद्धांत उन्होंने दिया। इस सिद्धांत का आशय यह है कि राम के सीता के प्रति प्रेम प्रदर्शन में सामाजिक स्वयं में रामत्व की भावना कर लेता है। इस प्रकार वह सीता के प्रति रति का आस्वादन करता है।

डॉ. रामानन्द शर्मा ने तादात्म्य के विषय में एक प्रश्न उठाया है कि तादात्म्य एक सामाजिक का आश्रय के साथ माना जाता है, परन्तु जहां पर आलम्बन रूप में मानवेत्तर प्रकृति आदि का चित्रण इस प्रकार किया जाए कि वह रति आदि भाव जागृत करे वहां तादात्म्य किसके साथ माना जाए? इनका यह भी कहना है कि विश्वनाथ ने 'अभेद' शब्द का प्रयोग किया था। विश्वनाथ के अनुसार साधारणीकरण के प्रभाव से सामाजिक स्वयं को आश्रय से अभेद मानने लगता है। विश्वनाथ ने 'अभेद' का प्रयोग यह दिखाने के लिए किया है कि साधारणीकरण के पश्चात् आस्वादन काल में सामाजिक एकाग्रचित हो जाता है। आगे चलकर 'अभेद' शब्द ने तादात्म्य का रूप ले लिया जो अनर्थकारी सिद्ध हुआ।

19.4 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का साधारणीकरण से संबंधित मत

शुक्ल जी के साधारणीकरण विषयक विचार कई लेखों में बिखरे हुए हैं। शुक्ल जी के मन्तव्य को उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत करना अधिक उपादेय होगा –

1) ''साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति–विशेष या वस्तु–विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है। ग ग ग काव्य में वर्णित आलम्बन केवल भाव की व्यंजन करने वाले पात्र (आश्रय) का ही आलम्बन नहीं रहता, बल्कि पाठक या श्रोता का भी एक ही नहीं, अनेक पाठकों या श्रोताओं का भी –आलम्बन हो जाता है।

2) "साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। तात्पर्य यह है कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है। ग ग साधारणीकरण प्रभाव का होता है, सत्ता या व्यक्ति का नहीं। साधारणीकरण स्वरूप का ही होता है, व्यक्ति या वस्तु का नहीं।''

3) "विभावादि सामान्य रूप में प्रतीति होते हैं, इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि ये आलम्बन मेरे हैं या दूसरे के। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है।''

4) "जहां आचार्यों ने पूर्ण रस माना है वहाँ तीन हृदयों का समन्वय चाहिए। आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम तो कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठ में विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है वह तभी चरितार्थ होता है।''

आचार्य शुक्ल की मान्यता का सार यह है कि भावाभिव्यंजन के लिये सर्वदा विशिष्ट वस्तु का ही उपादान होता है और व्यक्ति वैचित्र्य ही परिशीलक के मानस में परिस्फुट होता रहता है। किन्तु वह वस्तु या विषय इस प्रकार का अवश्य होता है कि सभी के उस प्रकार के भाव का आलम्बन बन सके। जब इस प्रकार की वस्तु परिशीलक के सामने आती है, तब परिशीलक के उसी भाव का आलम्बन हो जाती है, जो कि आश्रय होता है। इस प्रकार उपात्त व्यक्ति तो विशिष्ट ही रहता है, पर उसमें ऐसे सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा विद्यमान रहती है, जो थोड़ा–बहुत सभी दर्शकों या पाठकों का हो जाता है। यही साधारणीकरण है। अतः साधारणीकरण आलम्बन्त्व धर्म का होता है। सफल साधारणीकरण तभी होता है जबकि भाव की प्रथम अनुभूति कवि में हो; फिर अभिनेता में और उसके बाद पाठक में।

आचार्य शुक्ल की सम्मति की विशेषता यह है कि उन्होंने आलम्बनत्व धर्म में साधारणीकरण माना है। 'धर्म' एक विशिष्ट परिभाषिक शब्द है। दर्शन शास्त्र में धर्म वस्तु की उस विशेषता को कहा जाता है जिसके कारण वस्तु में प्राण प्रतिष्ठा होती है अर्थात् वस्तु अपने रूप में बनी रहती है। उदाहरण के लिए अग्नि का धर्म उष्णता और प्रकाश है जिसके अभाव में अग्नि का अग्नित्व ही समाप्त हो जाता है। आलम्बनत्व धर्म का भी आशय यही है कि आलम्बन की ऐसी विशेषता जो उसे आलम्बन बनाती है आलम्बनत्व धर्म कहलाती है। स्पष्ट है कि आलम्बन के रूपादि गुण कभी भी किसी व्यक्ति को आलम्बन नहीं बना सकते। 'भाव' ही वह तत्व है जिससे कोई व्यक्ति आलम्बन संज्ञा का अधिकारी होता है। अतएव जब यह कहा जाता है कि आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण होता है, तब उसका आशय यही हो जाता है कि मुख्य रूप से भाव का भी साधारणीकरण हुआ करता है। भाव के स्थान पर 'आलम्बनत्व धर्म' शब्द के प्रयोग से एक और मन्तव्य भी सिद्ध हो जाता है कि गौण रूप से उन सभी तत्त्वों का भी साधारणीकरण होता है जोकि आलम्बन को आलम्बनत्व प्रदान करते हैं। इस प्रकार भाव के साथ रस निष्पादन के लिये उपयोगी समस्त वर्ग का साधारणीकरण माना जा सकता है। इसी प्रकार आचार्य शुक्ल ने अपनी प्रवृत्ति के अनुसार पण्डितराज तथा विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित आश्रय के साथ तादात्म्य भी स्वीकार कर दोनों का सामंजस्य और समन्वय स्थापित किया है।

आश्रय के साथ तादात्म्य मानने पर आचार्य शुक्ल ने एक नई उलझन की ओर भी संकेत किया है। जहाँ मूलपात्र के साथ कवि एकात्म भाव का अनुभव करता है और वर्णनशक्ति के द्वारा सहृदयों को भी अपनी भावना में अन्वित कर लेता है वहाँ तो सब ठीक है क्योंकि यहां कवि लोक हृदय को अपने साथ लेकर चलता है। किन्तु अनेक स्थल ऐसे भी होते हैं जहां पाठक आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित ही नहीं कर सकता। उदाहरण के लिये रावण के सीता के प्रति प्रेम वर्णन में पाठक का रावण के साथ तादात्म्य नहीं होगा अपितु रावण पाठक के क्रोध अथवा घृणा का आलम्बन बन जायेगा। जनक की सभा में परशुराम के क्रोध के साथ हमारा तादात्म्य रह ही नहीं जाता। पर्वत से निरीह व्यक्तियों को गिराने में मिहिरसेन को जो आनन्द आता है उससे हम एकात्म भाव का अनुभव किस प्रकार कर सकते हैं ? इन सब प्रसंगों में आचार्य शुक्ल ने निम्नकोटि की रसानुभूति स्वीकार की है। रस में कोटियाँ मानना ठीक नहीं अतएव ऐसे स्थल पर आलम्बन और आश्रय के विपर्यय की बात कहकर भी कुछ लोगों ने समाधान प्रस्तुत किया है – अर्थात्

ऐसे स्थल पर रावण के साथ नहीं अपितु सीता के साथ सहृदय को तादात्म्य होता है और रावण उसमें आलम्बन बन जाता है। डॉ. नगेद्र ने इन अनुपत्तियों का समाधान यह दिया है कि पाठक या दर्शक का तादात्म्य कवि की भावना के साथ होता है। कवि जिस प्रकार की भावना का आस्वादन पाठक को कराना चाहता है या प्रकरण विशेष में कवि की जैसी भावना होती है पाठक उसी का आस्वादन करता है। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार कवि के साथ तादात्म्य का सिद्धान्त शुद्ध रस के प्रकरणों में भी चरितार्थ होता है और उक्त प्रकरणों में भी जिन्हें हम रसाभास का प्रकरण कह सकते हैं।

मूलपात्र, कवि और सहृदय के समानुभाव का सिद्धान्त नया नहीं है; स्वयं भट्टतौत ने इनका समर्थन किया था। आचार्य शुक्ल ने भी इसका संकेत दिया है – 'जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है। वह उसके किसी भाव का आलम्बन अवश्य होता है। अतः पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलम्बन रहता है, पाठक या दर्शक के उसी भाव का आलम्बन प्रायः हो जाता है।' यहां शुक्ल जी का 'प्रायः' शब्द ध्यान देने योग्य है। वस्तुतः रसास्वादन की मुख्य स्थिति तो यही है और अधिकांश रूप में रसास्वादन वहीं होता है जहाँ पात्र कवि और सहृदय की भावना में एकता होती है। ऐसा वहीं होता है जहाँ कवि लोक हृदय को पहचान कर उसकी अभिव्यंजना करता है। किन्तु यह स्थिति सर्वदा नहीं होती। कभी–कभी कवि ऐसे भाव का उपादान करता है जो न तो सहृदयों को हृदय होता है और न सहृदय परिशीलक कवि के उस भाव से एकरूपता प्राप्त कर सकते हैं। यदि पाकिस्तानी कवि भारतीय वीरों को कायर, कृपण और दीनहीन रूप में चित्रित करता है तो वहाँ किसी भारतीय सहृदय की अन्तरात्मा उससे तादात्म्य का अनुभव नहीं कर सकती। जगत्पूज्य नायिकाओं के प्रति रतिभाव फिर भी अनिर्णीत रह जाता है। यह तो कल्पना भी नहीं की जा सकती कि तुलसी सीता के प्रति उसी भाव का अनुभाव करना चाहते है जिसका राम ने किया था और उसी का आस्वादन पाठकों को भी कराना चाहते हैं। इस प्रकार कवि की भावना से तादात्म्य का सिद्धान्त अधिक कृतकार्य नहीं होता।

आलम्बन और आश्रय के व्यत्यय का सिद्धान्त भी पूर्णरूपेण कृतकार्य नहीं होता। एक तो व्यत्यय और व्यत्यास स्वयं में एक दोष है जो सामान्य सिद्धांत का मिथ्यात्व सिद्ध कर देता है। दूसरे अनेकशः ऐसे प्रसंग आ जाते हैं जहां हम आलम्बन और आश्रय दोनों में किसी के भाव से तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकतें। उदाहरण के लिए खरदूषण–वध के बाद शूर्पणखा ने रावण के प्रति जो क्रोध किया है उसमें हम ने तो रावण के भाव से तादात्म्य स्थापित कर सकते है न शूर्पणखा के भाव से। 'वेणी संहार' में कर्ण और अभिमन्यु के परस्पर क्रोध में किसी के भाव से तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा सकता। अतएव यह मान्यता भी अकिञ्चत्कर हो जाती है।

वास्तविकता यह है कि अभिनवगुप्त के रस सिद्धांत में इन सभी प्रश्नों का उत्तर विद्यमान है; किन्तु वह विवेचना सापेक्ष है। पहली बात तो यह है कि अभिनव गुप्त ने सबल शब्दों में इस बात को प्रतिपादन किया है कि जड़ों का विलय चेतन में हो जाता है ओर चेतनों का विलय मूलपात्र या नायक में हो जाता हैं। हमारी मनोवृत्ति वैसा ही अनुभव करने लगती है जैसी कि नायक की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार मध्यवर्ती पात्रों में चाहे रस हो चाहे रसाभास हमारी मनोवृत्ति वैसा ही अनुभव करेगी जैसा कि ऐसे अवसर पर दृष्टा के रूप में स्थित नायक उसका अनुभव करता। रावण के सीता के प्रति प्रेम में भी हमारी मनोवृत्ति राम जैसी ही रोगी। दूसरी बात यह है कि परिशीलक की विशिष्ट स्थिति को साथ पात्रों के प्रति उसके व्यक्तिगत भाव को अभिनवगुप्त ने रस प्रतिबन्धकों में रखा है। ऐसे स्थान पर अभिनवगुप्त के अनुसार रसास्वादन ही नहीं होता।

आचार्य शुक्ल ने लोक हृदय की बात कही है। लोक हृदय को मानवीकृत रूप के साथ तादात्म्य की अनुभूति इस समस्त प्रकरण की सबसे सुन्दर व्याख्या है। प्रत्येक व्यक्ति को परमात्मा के सत् और असत् के निर्णय की शक्ति दी है और एक के प्रति राग तथा दूसरो के प्रति द्वेष भी मानवपात्र की जन्मजात प्रवृत्ति हैं। इस प्रकार रसास्वादन के

अवसर पर तीन व्यक्तित्व हमारे सामने आते हैं – आश्रय का आलम्बन का और इन सबसे भिन्न एक अज्ञात व्यक्ति का जोकि हमारे अपने हृदय का प्रतिरूप होता है ओर अच्छाई बुराई की प्रशस्ति तथा ग्रहण करने में निरन्तर निरत रहता हैं। इस अपने अन्तःकरण के व्यक्ति रूप से ही हमारा तादात्म्य होता है। रस के स्वगत होने का यही आशय है और इसीलिये रसास्वादन के लिये वासना की आवश्यकता बतलाई गई है। यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों ने किसी परकीय व्यक्ति से तादात्म्य की बात न कहकर साधारणीकरण का ही विवेचन किया है।

लोक व्यवहार में हम जिन भावनाओं का अनुभव किया करते हैं उनसे हमारे हृदयों में एक ऐसा साधारण धर्म अधिष्ठित हो जाता है जो किसी एक व्यक्ति का नहीं अपितु सारे विश्व का होता है। यह भाव समस्त सहृदयों के हृदयों में अनुस्यूत होता है और जब कवि आलम्बनादि साधनों द्वारा उसका स्पर्श करता है तब समस्त सहृदयों में अनुस्यूत वही भाव वीणा के तारों की भांति झनझना उठता है तथा सहृदया व्यक्ति उसका सरलतापूर्वक आस्वादन करने में सक्षम हो जाता है। साधारणीकरण उसी भाव का होता है जो सर्वसाधारण के लिए अभिप्रेत हो और जिसका उपादान लोक मर्यादा संरक्षण के लिये स्पृहणीय हों। यह बात रस तथा रसाभास दोनों क्षेत्रों में लागू होती है। रसास्वादन में सहृदय की चित्तवृत्ति का तादात्मय नायक की भावना से हो जाता है। रसाभास के आस्वादन के अवसर पर नायक की चित्तवृत्ति के अनौचित्य प्रवृत्त होने के कारण वह भाव सामाजिक के लिए सात्म्य नहीं होता। अतः उस भाव से सामाजिक की चित्तवृत्ति संवाद को प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव वहां पर नायक की चित्तवृत्ति उद्दीपन का कार्य करती है और सामाजिक की चित्तवृत्ति का तादात्म्य या तो आलम्बन की चित्तवृत्ति से हो जाता है या उस अन्याय को समझने वाले किसी तटस्थ की चित्तवृत्ति से। पूज्य नायिकाओं के प्रति रतिभाव के आस्वादन के अवसर पर सामान्य रतिभाव का ही आस्वादन किया जाता है जो कि प्राणिमात्र के लिए सात्म्य है। आलम्बन और आश्रय उस रतिभाव का आस्वादन कराने में निमित्तमात्र होते हैं। अतएव वहाँ धर्म व्याघात का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इसी प्रकार असम्भव कार्यों के प्रति उत्साह का भी आस्वादन सामान्यतः उत्साह रूप में ही होता है। अशक्यता विशिष्ट में होती है जो सामाजिकों के सामान्य आस्वादन में निमित्तमात्र होता है। यही आचार्य शुक्ल द्वारा प्रतिपादित भावना के रूप में परिणत हो जाने और लोक भावना में लीन हो जाने का आशय है।

19.5 स्व–मूल्यांकन

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में आपने आचार्य विश्वनाथ और रामचन्द्र शुक्ल के साधारणीकरण से संबंधित मत का अध्ययन किया है। अब आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरकर एवं प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर इस अध्याय से प्राप्त ज्ञान का मूल्यांकन करें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा। यदि आप इस मूल्यांकन में असमर्थ हैं तो आपको निराश होने की आवश्यकता नहीं। आप इस अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

स्व मूल्यांकन : क – रिक्त स्थान भरो

1) साधारीकरण ————————————————धर्म का होता है।
2) ——————————————————————शक्ति द्वारा काव्य के सामान्य और अलंकारिक अर्थ का ज्ञान होता है।
3) भोजकत्व शक्ति द्वारा ——————————————————————भाव का उपयोग सामान्य रूप से सभी करते हैं।
4) आचार्य शुक्ल की सम्मति की विशेषता यह है कि उन्होंने ————————————————————धर्म में साधारणीकरण माना है।

5) आचार्य शुक्ल ने ————————————हृदय की बात कही है।

स्व–मूल्यांकनः ख – सही / गलत

1) 'भाव' ही वह तत्व है जिससे कोई व्यक्ति् आलम्बन संज्ञा का अधिकारी होता है। (   )
2) साधारणीकरण की स्थिति में सामाजिक के मोह आदि अज्ञान का निवारण हो जाता है। (   )
3) आलम्बनत्व धर्म का भी आशय यही है कि आलम्बन की ऐसी विशेषता जो उसे आलम्बन बनाती है आलम्वनत्व कहलाती है। (   )
4) सफल साधारणीकरण तभी होता है जबकि भाव की प्रथम अनुभूति कवि में न होकर अभिनेता या पाठक में होती है। (   )
5) आचार्य शुक्ल के अनुसार ''जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है। (   )

19.6 कठिन शब्द

1) अभिप्रेत– चाहा हुआ, इष्ट।
2) रसास्वादन– किसी रस का स्वाद लेना।
3) व्याघात– आघात, बाधा
4) अधिष्ठित – स्थित, स्थापित।
5) आलम्बन– सहारा, आश्रय।

19.7 अभ्यासार्थ प्रश्नः–

1. साधारणीकरण सम्बन्धी आचार्य विश्वनाथ के मत पर प्रकाश डालिए।

2. साधारणीकरण सम्बन्धी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत की व्याख्या कीजिए।

19.8 उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन : क

1. आलम्बनत्व 2. अभिधा 3. साधारणीकृत 4. आलम्बनत्व 5. लोक

स्व–मूल्यांकन : ख

1. सही 2. सही 3 . सही 4. गलत 5. सही

19.9. पठनीय पुस्तकें

(1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा, हरियाणा ग्रंथ अकादमी पंचकूला, 2013

(2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकशन, वाराणसी, 2023

(3) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय, वाणी प्रकाशन, 2024

(4) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2019

भारतीय काव्यशास्त्र पर आधारित बहुविकल्पीय प्रश्न

रूपरेखा

20.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

20.2 प्रस्तावना

20.3 भारतीय काव्यशास्त्र पर आधारित बहुविकल्पीय प्रश्न

20.4 उत्तर कुंजी

20.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय का उद्देश्य आपके द्वारा किए गए भारतीय काव्यशास्त्र के अध्ययन और इस अध्ययन से प्राप्त ज्ञान को परिपक्व बनाना है।

इस अध्याय में बहुविकल्पीय प्रश्न द्वारा स्व–मूल्यांकन करने के उपरान्त आप भारतीय काव्यशास्त्र को पूर्ण रूप से समझने में सक्षम होंगे।

20.2 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में पाठ्यक्रम से संबंधित भारतीय काव्यशास्त्र के बहुविकल्पीय प्रश्न दिए गए हैं ताकि आप भारतीय काव्यशास्त्र के संपूर्ण पाठ्यक्रम का एक साथ स्व–मूल्यांकन कर सकें।

20.3 भारतीय काव्यशास्त्र पर आधारित बहुविकल्पीय प्रश्न

1) 'नाट्यशास्त्र' के रचयिता कौन हैं?

क) आचार्य भरतमुनि ख) आचार्य जयदेव ग) आचार्य विश्वनाथ घ) आचार्य जगन्नाथ

2) 'चन्द्रालोक' के रचियता कौन हैं?

क) आचार्य विश्वनाथ ख) आचार्य जयदेव ग) आचार्य जगन्नाथ घ) आचार्य भरतमुनि

3) ''जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है। उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द–विचार करती आई है, उसे कविता (काव्य) कहते हैं।'' प्रस्तुत पंक्ति किस आलोचक की है।

क) हजारी प्रसाद द्विवेदी ख) नामवर सिंह ग) रामचन्द्र शुक्ल घ) रामकुमार वर्मा

4) ''सादगी, असलियत और जोश, यदि ये तीनों गुण कविता मे हो तो कहना ही क्या है। प्रस्तुत पंक्ति किसकी है?

क) नामवर सिंह ख) रामचन्द्र शुक्ल ग) हजारी प्रसाद द्विवेदी घ) महावीर प्रसाद द्विवेदी

5) **'वाक्य रसात्मक काव्य' अर्थात् रसयुक्त वाक्य ही काव्य है। प्रस्तुत पंक्ति किस आचार्य की है?**

क) आचार्य विश्वनाथ ख) आचार्य जयदेव ग) आचार्य भरतमुनि घ) आचार्य मामह

6) **'काव्यादर्श' नामक ग्रंथ के रचयिता हैं–**

क) आचार्य दण्डी ख) आचार्य भामह ग) आचार्य रूद्ट घ) आचार्य विश्वनाथ

7) **''प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिमा माता।'' किस आचार्य द्वारा प्रतिभा के विषय में परिभाषा दी गई है।**

क) आचार्य कुन्तक ख) आचार्य भट्टलोल्लट ग) आचार्य दण्डी घ) आचार्य जगन्नाथ

8) **काव्य के कितने हेतु माने गए हैं?**

क) दो ख) चार ग) तीन घ) पांच

9) **"शक्ति कवित्वबीजः संस्काररूप'' प्रतिभा के विषय में किस आचार्य द्वारा परिभाषा दी गई है?**

क) आचार्य दण्डी ख) आचार्य जगन्नाथ ग) आचार्य रुद्रट घ) आचार्य मम्मट

10) **काव्य रचना के अनुकूल शब्द और अर्थ को प्रस्तुत करने की क्षमता को क्या कहते हैं?**

क) प्रतिभा ख) व्युत्पति ग) अभ्यास घ) निपुणता

11) **रूपक के कितने भेद माने गए हैं।**

क) दो ख) चार ग) दस घ) पाँच

12) **आचार्य भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में नाटक के कितने तत्व माने हैं?**

क) तीन ख) पांच ग) चार घ) दो

13) **आचार्य रूद्रट ने खण्डकाव्य को क्या नाम दिया है?**

क) लघुकाव्य ख) प्रबन्धकाव्य ग) मुक्तककाव्य घ) गीतिकाव्य

14) **उपरूपक के भेदों की संख्या कितनी मानी है?**

क) दस ख) पांच ग) नौ घ) अठारह

15) **दृश्य काव्य के अन्य नाम क्या है?**

क) रूपक ख) नाटक ग) उपरूपक घ) उपर्युक्त सभी

16) **शब्दि शक्तियाँ कितने प्रकार की होती है?**

क) तीन ख) दो ग) चार घ) पांच

17) **जिसकी सहायता से किसी शब्द का साधारण, प्रचलित या मुख्य संकेतित अर्थ समझा जाता है इसी शब्द शक्ति को क्या कहते हैं?**

क) व्यंजना ख) अभिधा ग) लक्षणा घ) इनमें से कोई नहीं

18) रीतिकाल के किस कवि ने लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग में नैपुण्य हासिल किया है।

क) घनानन्द ख) बोधा ग) आलम घ) ठाकुर

19) किस शब्द शक्ति में मुख्यार्थ के स्थान पर उससे सम्बन्ध रखने वाला दूसरा अर्थ लिया जाता है।

क) अभिधा ख) व्यंजना ग) लक्षणा घ) इनमें से कोई नहीं

20) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार शब्द के मुख्य अर्थ को बोध कराने वाली शक्ति है

क) लक्षणा ख) व्यंजना ग) अभिधा घ) इनमें से कोई नहीं

21) भारतीय काव्यशास्त्र का सर्वप्रमुख एवं सबसे प्राचीन काव्य–सिद्धांत कौन–सा है?

क) रस सिद्धांत ख) रीति सिद्धांत ग) अलंकार सिद्धांत घ) ध्वनि सिद्धांत

22) रस संप्रदाय का प्रवर्तक किसे माना जाता है?

क) आचार्य दण्डी ख) आचार्य वामन ग) आचार्य भरतमुनि घ) आचार्य रुद्रट

23) 'रस–मीमांसा' नामक ग्रंथ से आधुनिक युग (बीसवीं सदी) में रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या किस आचार्य ने की है?

क) डॉ. नगेन्द्र ख) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग) आचार्य मम्मट घ) आचार्य कुन्तक

24) किस आचार्य ने रस की दार्शनिक दृष्टि से व्याख्या की है?

क) आचार्य रुद्रट ख) आचार्य भट्टनायक ग) आचार्य शंकुक घ) आचार्य भट्टलोल्लट

25) किस आचार्य ने भरतमुनि के समान विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी से परिपुट स्थायी भाव को रस कहा है?

क) आचार्य शंकुक ख) आचार्य उद्भट्ट ग) आचार्य वामन घ) आचार्य दण्डी

26) अलंकार की व्युत्पति कितने प्रकार से बतायी गयी है?

क) दो ख) तीन ग) चार घ) एक

27) अलंकारों की चर्चा किस आचार्य से आरम्भ होती है?

क) दण्डी ख) भामह ग) वामन घ) भोजराज

28) किस आचार्य के अनुसार अलंकार के अभाव में काव्य की स्थिति हो ही नहीं सकती।

क) भामह ख) कुन्तक ग) दण्डी घ) वामन

29) ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक कौन हैं?

क) भोजराज ख) वामन ग) कुन्तक घ) आनन्दवर्द्धन

30) किस आचार्य ने 'सालंकारस्य काव्यता' कहकर अलंकार को काव्य का अविभाज्य अंग माना है?

क) कुन्तक ख) भामह ग) वामन घ) दण्डी

31) रीति शब्द का व्युत्पतिपरक अर्थ क्या है?

क) मार्ग　　ख) पद्धति　　ग) प्रणाली　　घ) उपर्युक्त सभी

32) रीति सम्प्रदाय किस आचार्य का है?

क) आचार्य वामन　　ख) आचार्य भामह　　ग) आचार्य भरतमुनि　　घ) आचार्य दण्डी

33) आचार्य भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में किस संज्ञा से रीति का विवेचन किया है?

क) पन्थ　　ख) प्रवृत्ति　　ग) गति　　घ) वीथि

34) आचार्य मामह ने रीति के स्थान पर किसका प्रयोग किया है?

क) प्रणाली　　ख) पद्धति　　ग) काव्य या काव्य भेद　　घ) मार्ग

35) किस आचार्य ने 'लाटीया' नामक एक और रीति जोड़कर रीति संख्या चार तक पहुंचा दी।

क) रूद्रट　　ख) आनन्दवर्द्धन　　ग) वामन　　घ) दण्डी

36) ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक कौन थे?

क) आचार्य भरतमुनि　　ख) आचार्य आनन्दवर्धन　　ग) आचार्य वामन　　घ) आचार्य भामह

37) पंतजलि ने ध्वनि को क्या नाम दिया है?

क) शब्द　　ख) अर्थ　　ग) व्यंजन　　घ) इनमें से कोई नहीं

38) कौन से अलंकारवादी आचार्य ध्वनि की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं।

क) भामह　　ख) दण्डी　　ग) उद्‌भट　　घ) उपर्युक्त सभी

39) कौन से आचार्य लक्षणावादी माने जाते हैं?

क) भामह, दण्डी　　ख) रूद्रट वामन　　ग) भट्टनायक, उद्‌भट　　घ) इनमें से कोई नहीं

40) लक्षणा शक्ति कितने हेतुओं पर आधारित हैं।

क) दो　　ख) तीन　　ग) चार　　घ) पांच

41) अभिनवगुप्त ने वक्रोवित को कौन–सा अलंकार माना है?

क) सामान्य　　ख) यमक　　ग) अनुप्रास　　घ) इनमें से कोई नहीं

42) वामन के पश्चात एसे कौन से आचार्य हैं जिन्होंने वक्रोक्ति का क्षेत्र और अधिक संकुचित करके इसे केवल शब्दालंकर तक सीमित कर दिया?

क) दण्डी　　ख) रुद्रट　　ग) कुल्तक　　घ) आनन्दवर्द्धन

43) किस आचार्य ने अतिश्योक्ति के स्वरूप वर्णन द्वारा वक्रता का आशय स्पष्ट किया?

क) कुन्तक　　ख) भामह　　ग) वामन　　घ) दण्डी

44) **किस आचार्य के अनुसार वक्रोक्ति का क्षेत्र 'सादृश्याश्रित लक्षणा' तक ही सीमित है?**

क) आनन्दवर्द्धन ख) कुन्तक ग) वामन घ) दण्डी

45) **किस आचार्य ने वक्रोक्ति सम्बन्धी भामह को ही सुदृढ़ आधार प्रदान किया?**

क) आनन्दवर्द्धन ख) दण्डी ग) कुन्तक घ) वामन

46) **औचित्य संप्रदाय के संस्थापक कौन हैं?**

क) आचार्य क्षेमेंद ख) आचार्य अभिनवगुप्त ग) आचार्य कुतंक घ) आचार्य भामह

47) **आचार्य क्षेमेन्द्र के गुरु का क्या नाम था?**

क) आचार्य कुंतक ख) आचार्य अभिनवगुप्त ग) आचार्य भामह घ) आचार्य वामन

48) **किस आचार्य के अनुसार काव्य का गुण तत्व वक्रता है किन्तु वक्रता का मूलाधार औचित्य ही है।**

क) आचार्य क्षेमेन्द्र ख) आचार्य वामन ग) आचार्य कुन्तक घ) आचार्य अभिनवगुप्त

49) **किस आचार्य ने प्रबन्ध की रस व्यंजकता पर विचार करते हुए प्रासंगिक रूप से विभावादि के अनौचित्य की बात कही।**

क) आचार्य कुन्तक ख) आचार्य क्षेमेन्द्र ग) आचार्य वामन घ) आचार्य आनन्दवर्द्धन

50) **किस आचार्य ने पहली बार विभिन्न काव्यांगों में औचित्य के निर्वाह की बात कही।**

क) आचार्य रूद्रट ख) आचार्य कुन्तक ग) आचार्य भरतमुनि घ) आचार्य भामह

51) **भक्ति रस का संबंध किस आनन्द से है?**

क) काव्यानन्द से ख) अलौकिक आनन्द से ग) आस्वादन से घ) इनमें से कोई नहीं

52) **साहित्य–रस का संबंध किस आनन्द से है?**

क) आस्वादन से ख) अलौकिक आनन्द से ग) काव्यानन्द से घ) इनमें से कोई नहीं

53) **रस की निष्पति किससे होती है?**

क) विभाव ख) अनुभाव ग) व्यभिचारी भाव घ) उपर्युक्त सभी

54) **भरतमुनि के रससूत्र की 'अनुमतिवाद' पर आश्रित व्याख्या किस आचार्य की है?**

क) शकुंक ख) भट्टलोल्लट ग) अभिनवगुप्त घ) भट्टनायक

55) **भरतमुनि के रससूत्र की 'भुक्तिवाद' पर आश्रित व्याख्या किस आचार्य की है?**

क) भट्टलोल्लट ख) भट्टनायक ग) अभिनवगुप्त घ) शकुंक

56) **कौन से आचार्य हैं जिन्होंने 'रस–निष्पति' से संबंधित सूत्र प्रस्तुत किया और उस सूत्र की व्याख्या भी की।**

क) आचार्य भरतमुनि ख) आचार्य भट्टनायक ग) आचार्य मम्मट घ) आचार्य रूद्रट

57) भट्टनायक भरत–सूत्र के कौन से व्याख्याकार हैं?

क) दूसरे   ख) पहले   ग) तीसरे   घ) चौथे

58) भट्टलोल्लट के मत का क्या नाम है?

क) आरोपवाद   ख) मुक्तिवाद   ग) अभिव्यक्तिवाद   घ) अनुमीतिवाद

59) मम्मट ने अपने 'काव्य–प्रकाश' में किसके मत का उल्लेख किया है?

क) आचार्य अभिनवगुप्त   ख) आचार्य भट्टनायक   ग) आचार्य रूद्रट   घ) आचार्य भरतमुनि

60) कौन से आचार्य रस–सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि रस न तो प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त होता है।

क) आचार्य भट्टलोल्लट   ख) आचार्य भरतमुनि   ग) आचार्य भट्टनायक   घ) आचार्य शकुंक

61) भट्टलोल्लट के रस–निष्पतिपरक चिन्तन पर कौन–कौन से आचार्यों के रस मत का प्रभाव भी लक्षित होता है।

क) दण्डी–उद्भट   ख) भट्टनायक, भट्टलोल्लट   ग) कुन्तक, क्षेमेन्द्र   घ) रूद्रट, उद्भट

62) ''विभावानुभावव्याभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पति" अर्थात् विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पति होती है। प्रस्तुत रससूत्र किसका है?

क) भट्टनायक   ख) भरतमुनि   ग) कुन्तक   घ) क्षेमेन्द्र

63) 'अभिनवभारती' के रचयिता कौन हैं?

क) अभिनवगुप्त   ख) भट्टलोल्लट   ग) भट्टनायक   घ) शकुंक

64) 'ध्वन्यालोक लोचन' के रचयिता कौन हैं?

क) भट्टनायक   ख) भट्टलोल्लट   ग) अभिनवगुप्त   घ) शकुंक

65) किस आचार्य ने नाट्य–सन्दर्भों में रस–धारणा का सूत्रपात करके रस की आनुशांगिक व्याख्या की एक परम्परा डाली।

क) भरतमुनि   ख) दण्डी   ग) वामन   घ) भामह

66) रससूस की नाटय सन्दर्भों में दूसरी महत्वपूर्ण व्याख्या किस आचार्य ने दी।

क) शंकुक   ख) भट्टलोल्लट   ग) भट्नायक   घ) वामन

67) शंकुक किस आचार्य के समकालीन थे?

क) भट्टनायक   ख) शंकुक   ग) भट्टलोल्लट   घ) अभिनवगुप्त

68) काव्यप्रकाश पर टीका किसने लिखी थी?

क) आचार्य वामन   ख) आचार्य मम्मट   ग) आचार्य शंकुक   घ) आचार्य विश्वनाथ

69) **शंकुक के बाद भरत रस सूत्र के तीसरे व्याख्याकार हैं?**

क) आचार्य विश्वनाथ ख) आचार्य भट्टनायक ग) आचार्य वामन घ) आचार्य मम्मट

70) **शंकुक की अनुकरणवादी धारणा को किस आचार्य ने चुनौती दी है?**

क) आचार्य भट्टलोल्लट ख) आचार्य मम्मट ग) आचार्य वामन घ) आचार्य विश्वनाथ

71) **ध्वनिवादी आचार्य अभिनवगुप्त रस–सूत्र के कौन से व्याख्याकार हैं।**

क) पहले ख) दूसरे ग) तीसरे घ) चौथे

72) **भट्टलोल्लट, शंकुक एवं भट्टनायक के मतों के परीक्षण के पश्चात् किस आचार्य ने रस–सूत्र की नयी व्याख्या प्रस्तुत की।**

क) अभिनवगुप्त ख) वामन ग) विश्वनाथ घ) मम्मट

73) **अभिनवगुप्त के रस–निष्पति विषयक विचार उनके किस ग्रंथ में मिलते हैं–**

क) अभिनवभारती ख) ध्वन्यालोकलोचन ग) दोनों सही घ) दोनों में से कोई नहीं

74) **अभिनवगुप्त ने 'निष्पति' का अर्थ क्या माना है?**

क) उत्पत्ति ख) उन्नति ग) अभिव्यक्ति घ) उपर्युक्त सभी

75) **प्रत्येक व्यापार के कितने अंग होते हैं।**

क) चार ख) पांच ग) दो घ) तीन

76) **'साधारणीकरण' का प्रत्यय सर्वप्रथम किस आचार्य के रस विवेचन से प्राप्त होता है?**

क) भट्टनायक ख) भट्टलोल्लट ग) श्रीशंकुक घ) अभिनवगुप्त

77) **भट्टनायक कौन से रसवादी आचार्य हैं?**

क) दूसरे ख) पहले ग) तीसरे घ) पहले

78) **भट्टलोल्लट और शंकुक की रस निष्पति संबंधी व्याख्याओं का खण्डन करते हुए कौन अपना मत प्रस्तुत करते हैं।**

क) मम्मट ख) अभिनवगुप्त ग) भरतमुनि घ) भट्टनायक

79) **भट्टनायक रस प्रक्रिया के अन्तर्गत किसकी कल्पना स्वीकार करते हैं।**

क) अभिधा ख) भावकत्व ग) भोजकत्व व्यापार घ) उपर्युक्त सभी

80) **किस आचार्य के लिए काव्यार्थ की प्रतीति एक अलौकिक व्यापार है?**

क) भट्टनायक ख) भट्टलोल्लट ग) भरतमुनि घ) अभिनवगुप्त

81) अभिनवगुप्त कौन से दार्शनिक थे?

क) द्वैतवाद	ख) अद्वैतवाद	ग) द्वैताद्वैत	घ) शैवाद्वैतवादी

82) अभिनवगुप्त का समय कौन–सा है?

क) दसवीं–ग्यारहवीं	ख) सातवीं–आठवीं	ग) बारहवीं–तेरहवीं	घ) दूसरी–तीसरी

83) अभिनवगुप्त के कितने ग्रंथ उपलब्ध होते हैं?

क) तीन	ख) चार	ग) एक	घ) दो

84) अभिनवगुप्त की 'अभिनव भारती' की काव्यशास्त्रीय स्थापनाओं का आधार कौन–सी कृति है।

क) काव्यशास्त्र	ख) दर्शन शास्त्र	ग) नाट्यशास्त्र	घ) इनमें से कोई नहीं

85) रसनिष्पति के लिए किस आचार्य ने रसाभिव्यक्ति निर्धारित किया है जिसके कारण इनका रसवाद अभिव्यक्तिवाद कहा जाता है।

क) भट्टनायक	ख) भट्टलोल्लट	ग) अभिनवगुप्त	घ) शंकुक

86) 'साधारणीकरण' का शाब्दिक अर्थ है?

क) व्यक्ति का विलयन	ख) निवैयक्तिकरण	ग) सम्बन्ध विशेष का त्याग	घ) उपर्युक्त सभी

87) भरत सूत्र की व्याख्या करने वालों में प्रथम आचार्य कौन हैं?

क) भट्टलोल्लट	ख) शंकुक	ग) भट्टनायक	घ) अभिनवगुप्त

88) रसनिष्पति बनाम साधारणीकरण के दूसरे व्याख्याकार कौन हैं।

क) भट्टनायक	ख) अभिनवगुप्त	ग) शंकुक	घ) अभिनवगुप्त

89) रसानुभूति (साधारणीकरण) के सम्बन्ध में भट्टनायक का सिद्धान्त क्या कहलाता है।

क) अभिव्यक्तिवाद	ख) भुक्तिवाद (योगवाद)	ग) अनुमितिवाद घ) उत्पतिवाद या आरोपवाद

90) किसी आचार्य ने भट्टनायक व अभिनवगुप्त को आधार मानकर 'कवि तत्व' का उल्लेख किया है।

क) आचार्य धनंजय	ख) आचार्य विश्वनाथ	ग) आचार्य जगन्नाथ	घ) आचार्य अभिनवगुप्त

91) भट्टनायक ने साधारीकरण होने तक की प्रक्रिया में कितनी शक्तियों की कल्पना की है?

क) दो	ख) तीन	ग) एक	घ) चार

92) भट्टनायक के साधारणीकरण के सिद्धांत को किस आचार्य ने संषोधित रूप से प्रस्तुत किया।

क) अभिनवगुप्त	ख) शंकुक	ग) भट्टनायक	घ) भट्टलोल्लट

93) भट्टनायक ने साधारणीकरण होने तक की प्रक्रिया में जिन तीन शक्तियों की कल्पना की है उनके नाम हैं–

क) अभिधा　　ख) भावकत्व　　ग) भोजकत्व　　घ) उपर्युक्त सभी

94) विश्वनाथ ने साधारीकरण के व्यापार को कितने भागों में विभक्त किया है?

क) चार　　ख) दो　　ग) पांच　　घ) एक

95) जहां आचार्यों ने पूर्ण रस माना है वहां तीन हृदयों का समन्वय चाहिए। प्रस्तुत उक्ति किसकी है?

क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल　　ख) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

ग) रामकुमार वर्मा　　घ) नामवर सिंह

20.4 उत्तर कुंजी

(1) क (2) ख (3) ग (4) घ (5) क (6) क (7) ख (8) ग (9) घ (10) क (11) ग (12) ख (13) क (14) घ (15) घ (16) क (17) ख (18) क (19) ग (20) ग (21) क (22) ग (23) ख (24) ग (25) घ (26) क (27) ख (28) ग (29) घ (30) क (31) घ (32) क (33) ख (34) ग (35) क (36) ख (37) क (38) घ (39) ग (40) ख (41) क (42) ख (43) ख (44) ग (45) क (46) क (47) ख (48) ग (49) घ (50) क (51) ख (52) ग (53) घ (54) क (55) ख (56) क (57) ग (58) क (59) ख (60) ग (61) क (62) ख (63) क (64) ग (65) क (66) क (67) ग (68) घ (69) ख (70) क (71) घ (72) क (73) ग (74) ग (75) घ (76) क (77) ग (78) घ (79) घ (80) क (81) घ (82) क (83) घ (84) ग (85) ग (86) घ (87) क (88) ग (89) ख (90) क (91) ख (92) क (93) घ (94) ख (95) क